सिद्धयोग

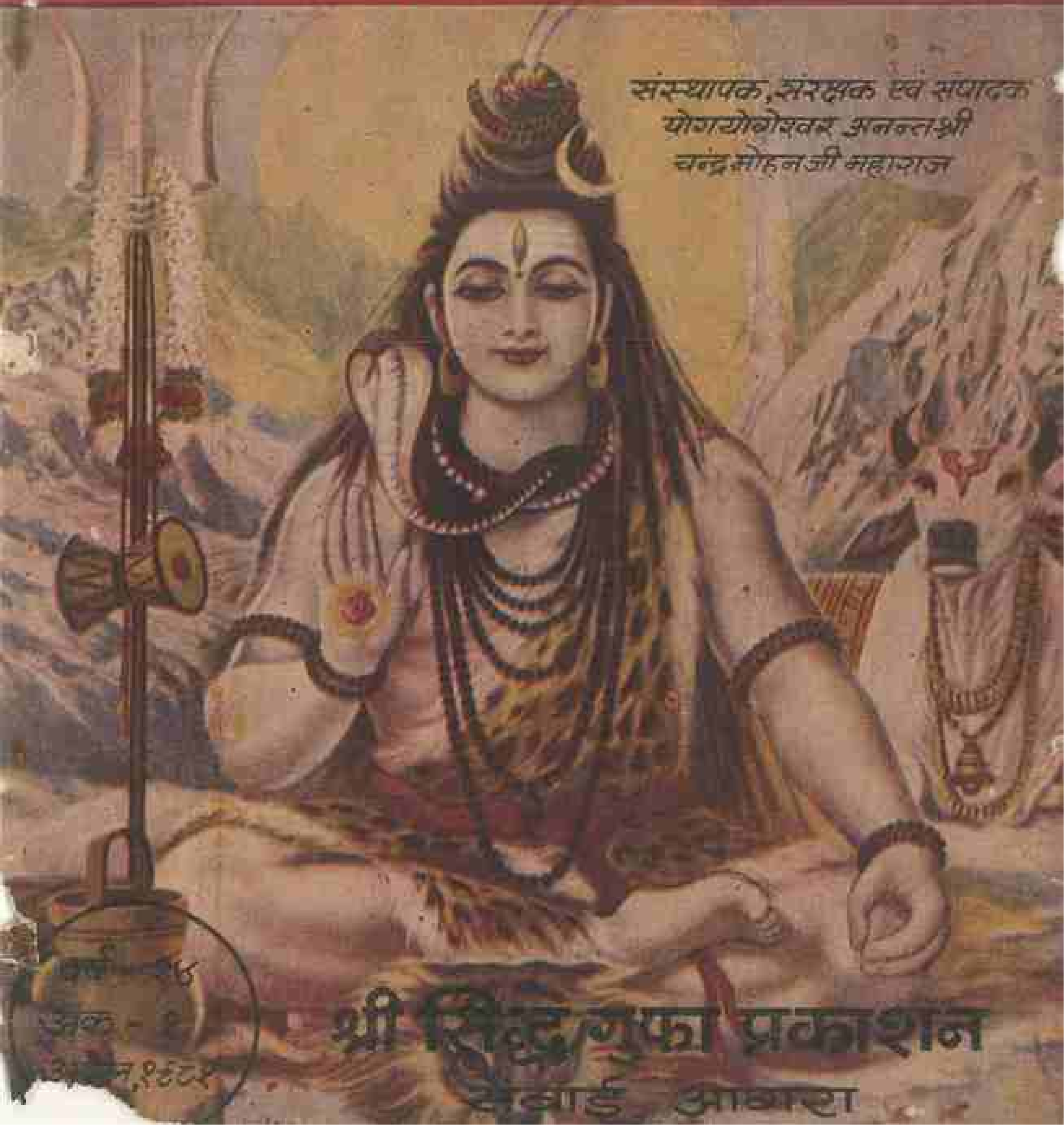

संस्थापक, संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

वर्ष - [illegible]
अंक - [illegible]
अप्रैल, १९८८

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सेवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

❀ स्वरूप स्थिति के दिव्य साधन (विशेष लेख)
योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २
❀ तन्त्र और योग धारणा
डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ७
❀ योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज (कविता)
श्री जगदीशशरण बिलगइयां मधुप १२
❀ सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल (कविता)
श्री रामसजीवनसिंह १३
❀ ध्यानयोग की आवश्यकता
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा १४
❀ पातिव्रत और योग
सांख्य योगाचार्य श्रीमती सरितो भारद्वाज १८
❀ समत्वं योग उच्यते
श्री मनमोहन कृष्ण त्रिखा २८
❀ ध्यानयोग एवं आत्म साक्षात्कार
श्री सूरजप्रकाश शर्मा ३२
❀ तुम मौन मत रहो मेरे मित्र
श्री राघवेन्द्र तिवारी ३८
❀ गीतोक्त योग साधना
डा० जे० पी० अवस्थी ३६
❀ सती धर्म व उसका महत्व
श्रीमती राज त्रिखा ४२
❀ योग चिकित्सा
श्री गिरीशदेव वर्मा ४७
❀ तुम कौन हो ? (कविता)
श्री गुरुदत्त शर्मा ५१
❀ ईशावास्यमिदं
ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ ५२
❀ आसन स्थिति
श्री बालेकुन्द्रीकर पन्त महाराज ५६
❀ सन्तों का लोकधर्म आचरण के धरातल पर
डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र ६१
❀ सिद्धयोग प्रकाशन के स्वाध्याय का सुपरिणाम
श्री महेन्द्रनारायणसिंह ७३
❀ षट्कर्म
श्री कमलाप्रसादसिंह ७६

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य : १८ रुपया विशेषाङ्क ३ रुपया

मानिकचन्द शर्मा आँवला

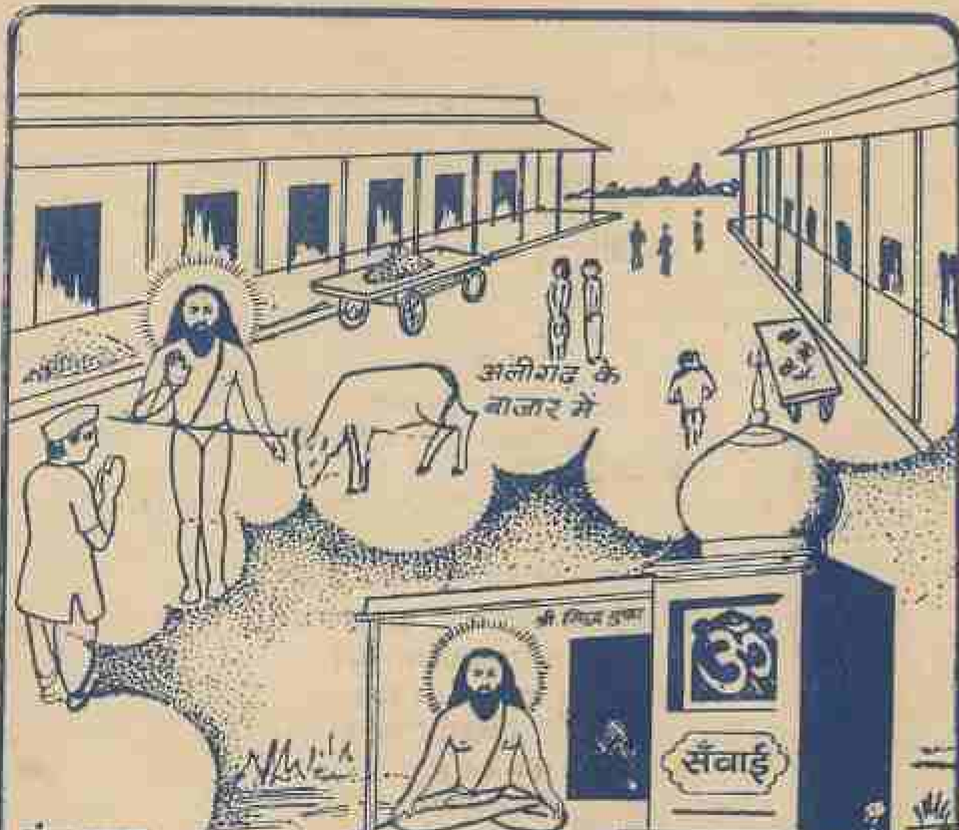

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का कार्य-निर्माण

वर्ष १४
अङ्क १

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

अप्रैल
१९८१

ब्रह्म न स्मरसि

पातालमाविशसि यासि नभो विलंघ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनामं
तद् ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥

अर्थात्

रे मन तू अपने चाञ्चल्य से कभी तो पाताल में घुस जाता है, कभी ऊँचे से ऊँचे आकाश तक को पार कर जाता है, कभी सब दिशाओं का चक्कर काट आता है जब जहां के विषय की लालसा होती है, तब वहां पहुँच जाता है, परन्तु भ्रम से भी कभी निर्मल और आत्म-हितकारी उस परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन क्यों नहीं करता जिससे यथार्थ सुख प्राप्त होता है।

—श्री भर्तृहरि

हमारा विशेप लेख —

❈ स्वरूप-स्थिति के दिव्य साधन ❈

❀ योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भगवान पतञ्जलिदेव ने योगदर्शन के प्रारम्भ में योग की परिभाषा लिखकर चित्त-वृत्तिनिरोध को ही स्वरूप प्रतिष्ठा एवं केवली-भाव बतलाया है। अर्थात् केवलीभाव को प्राप्त करने के लिए हमारे शास्त्रों में मतिभेद से अनेकानेक साधनों का वर्णन मिलता है। उनमें से साधन-योग के अभ्यासी योगी को जो पहले से ही मन की एकाग्रता के साथ जो अपने आपको परम श्रेय का भागी बनाना चाहता है उसको क्रमशः यौगिक कोर्स का अध्ययन करना पड़ता है, और यौगिक कोर्स का निरूपण हमारे शास्त्रों में और भगवान कृष्णचन्द्र ने अपनी गीता में इस प्रकार से किया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरि-
न्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो-
बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात् साधन-योग का अभ्यासी साधक अपने प्रबल पुरुषार्थ से इन्द्रियों के रूप का साक्षात्कार करे और उसके बाद मन का साक्षात्कार करे, मन के बाद बुद्धि और बुद्धि के बाद महत्तत्व का साक्षात्कार करके अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जाय। इस कोर्स की विधि से अभ्यास करने वाले योगीजन शनैः-शनैः अभ्यास करते हुए अपने नित्य स्वरूप को प्राप्त हो जाया करते हैं जिसको योगदर्शन में चित्त-वृत्तिनिरोध के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु यह मार्ग सर्व साधारण के लिए क्लिष्ट मार्ग है, वस्तुतः तो योग मार्ग का जिज्ञासु महावीर्यवान्, परमोत्साही, अन्तरायों से अभिभूत न होने वाला दृढ़ता से निरन्तर अभ्यासशील साधक ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। अन्यथा थोड़े-थोड़े कदम बढ़ा कर साधक लोग भ्रमित चित्त होकर थक जाते हैं एवं जिस उत्तम योगमार्ग का उन्होंने चयन किया था उसको छोड़ बैठते हैं। इन्हीं सब बातों को समझकर हमारे योगाचार्यों ने योग-जिज्ञासुओं के हितार्थ सरलता से प्राप्त होने लायक साधनों का आविर्भाव किया। जैसे षट्चक्रों का ध्यान करने से पांचों ज्ञानेन्द्रियों का स्वतः ही साक्षात्कार हो जाया करता है। मूलाधार का चिन्तन करने पर गन्ध तन्मात्रका

अर्थात् घ्राणेन्द्रिय का एवं स्वाधिष्ठान-चक्र का साक्षात्कार करने से रसनेन्द्रिय जिह्वा का, मणिपूरक चक्र का साक्षात्कार करने से नेत्रेन्द्रिय का और इसी प्रकार अनाहत-चक्र का साक्षात्कार करने से त्वचा का और विशुद्ध-चक्र का साक्षात्कार करने से शब्द तन्मात्र अर्थात् कर्णेन्द्रिय का अनायास साक्षात्कार कर लेते हैं। इसमें उनको कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। केवल मात्र षट्चक्रों के देवों का ध्यान एवं सद्गुरु के शक्ति-संचार करने से बिना किसी श्रम के स्वरूप-स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु इस ही विषय को और भी सरलतम बनाने के लिए भगवान पतञ्जलि देव ने वीतराग पुरुषों के चित्त का अवलम्बन लेने की विधि का उपदेश किया—

वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥३७॥
(समाधिपाद)

वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

अर्थात् वीतराग पुरुषों के चित्त का अवलम्बन लेकर यदि योगी अभ्यास करता है तो सहज में ही उपरोक्त स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने शब्दों में इसका पूरा-पूरा अनुमोदन किया है। अर्जुन को उपदेश देते हुए यह आदेश दिया है कि—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

अर्थात् हे अर्जुन! तू अपना मन मेरे अन्दर लगा दे, अपनी बुद्धि को मेरे अन्दर प्रवेश करा दे। इसके बाद तू मुझमें ही रहेगा, इसमें कोई शंका की बात नहीं।

इस श्लोक का सीधा अर्थ यह है कि जो भाव पतञ्जलि देव ने 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' में दर्शाये हैं किन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि तीन दुनिया के कर्ता-धर्ता, सबके हृदयेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने यह आदेश तो दे दिया किन्तु मन को उनमें किस प्रकार लगाये, बुद्धि का किस प्रकार लगाये, सर्व-साधारण के लिए यह आसान बात नहीं है, यह विधि केवल योग-ध्यान के द्वारा हो सकती है। एक योगाभ्यासपरायण व्यक्ति जो समाधि के सही अर्थ को समझ चुका है वह यह जान सकता है कि मन को मन में कैसे मिलाया जा सकता है और बुद्धि को बुद्धि में किस प्रकार प्रवेश कराया जा सकता है। भगवान पतञ्जलि देव समाधि की सही परिभाषा समझाने के लिये पातञ्जल योग-दर्शन में एक सूत्र लिखते हैं जिससे क्रियात्मिका समाधि का ज्ञान, पूर्ण-रूपेण हर व्यक्ति समझ सकता है। श्री

पतञ्जलि देव ने धारणा, ध्यान, समाधि योग के तीन आभ्यन्तर अङ्गों का वर्णन किया है। किसी एक लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करने के प्रयत्न को धारणा कहते हैं और वही प्रयत्न जब एकाग्रता का रूप धारण कर लेता है एवं एक लक्ष्य में बराबर लगा रहता है और उसको आभ्यन्तर दृष्टि के द्वारा बराबर देखता रहता है तो इस अभ्यास को निरन्तर प्रयासपूर्वक करते रहने से चित्त के अन्दर यह योग्यता आ जाती है कि वह लक्ष्यीभूत वस्तु के आकार वाला बन जाया करता है, इसी को भगवान पतञ्जलि देव समाधि कहते हैं। समाधि का लक्षण विभूति पाद के तीसरे सूत्र में श्री पतञ्जलि देव जी महाराज इस प्रकार लिखते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

इस सूत्र पर पढ़िये श्री भगवान व्यासदेव जी का भाष्य—

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात् ध्यान करने वाला चित्त जिस समय ध्येयाकार में परिणत हो जाता है उस समय ध्येय वस्तु के गुण कर्म स्वभाव का पूर्ण रूपेण प्राकट्य होने लगता है। उसी के फलस्वरूप योग ध्येयाकार में बदलकर अपने मन को ध्येय के मन वाला और उस ही की बुद्धि वाला बना लिया करता है। यह भी समाधि लगाने का एक सहज एवं उत्तम उपाय है। मन, मन में प्रवेश कर सकता है। बुद्धि, बुद्धि में लय हो सकती है। उसके बाद आत्मत्वेन यह सब कुछ एक है ही, इसी गुह्यार्थ का उपदेश भगवान श्रीकृष्ण ने अपना भगवद्-गीता में— "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।" कहकर स्पष्टीकरण के साथ अपने अन्दर प्रवेश कर जाने वाली बात को अर्जुन के प्रति आदेशात्मक एवं संशय रहित कहकर समझाया है। इस सिद्धान्त को केवल मात्र योगाभ्यासी व्यक्ति ही समझ सकता है एवं समझकर अपने आपको तदाकार आकारित करके अपने आपको लय भी कर सकता है। पूर्ण सिद्ध योगिराज गुरु के शक्तिपात से यह बात जल्दी से जल्दी सम्भव हो सकती है। कदाचित कोई व्यक्ति सिद्ध-संगति को प्राप्त न हो सके उस हालत में अभ्यास योग के द्वारा इस स्थिति को पाया जा सकता है, वही आदेश अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण समझा कर कहते हैं कि हे अर्जुन! यदि तुम अपने मन और बुद्धि को मुझमें प्रवेश नहीं करा सकते हो तो अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की चेष्टा करो। पढ़िये श्रीमद्भगवद् गीता के बारहवें अध्याय का श्लोक—

अथ चित्तं समाधातुं न
शक्नोषि मयि स्थिरम्।

अभ्यासयोगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! यदि तुम मुझमें चित्त धारण कराने में असमर्थ हो तो अभ्यास योग के द्वारा मुझको प्राप्त कर लेने की चेष्टा करो। यदि तुम अभ्यास योग में भी असमर्थ हो तो हर कर्म मेरे निमित्त करो—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि
मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि
कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

अर्थात् यदि अभ्यास भी पूरा-पूरा नहीं बन सकता है तो भगवान कहते हैं कि तुम मेरे निमित्त कर्म करो। मदर्थ कर्म का सीधा स्पष्ट अर्थ स्वयं भगवान कृष्ण ने स्पष्टीकरण के साथ इस प्रकार कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत् तपस्यसि कौन्तेय
तत् कुरुस्व मदर्पणम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! जो तुम खाते हो वह मेरे लिए खाओ अर्थात् उसमें तुम्हारा अपना स्वत्व कुछ न रहे। जो करते हो मेरे लिये करो। जो यज्ञादि करते हो, दान करते हो वह मेरी खुशीके लिये करो और जो तपश्चर्या आदि करते हो, वह सब मेरे लिए करो। यदि मनुष्य अपने जीवन के अन्दर हर कर्म मदर्थ करे तो उन कर्मों में से उसका अपना अधिकार उठ जाया करता है और वह उसका सब कर्म ब्रह्मार्पण बुद्धिसे ही होता है। अतः करने वाले की अपनी आसक्ति उस कर्म में नहीं रहती वह स्पष्ट शब्दों में कहता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः
ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं
ब्रह्मकर्म समाधिना ॥

अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धि से किया गया कर्म ब्रह्म को ही पहुँच जाता है। इसलिये हमारे हिन्दू धर्म के अन्दर सद्‌गृहस्थ लोग भगवान को भोग लगाकर भोजन करते हैं। इस प्रकार जो साधक अपने इष्टदेव को, श्रीकृष्णचन्द्र को सर्वकर्मार्पण कर देता है तो वह सारे के सारे कर्म उसके अपने लिए फल के दाता नहीं रहते। कृष्णार्पित कर्म जन्म-मरण से मनुष्य को छुटा देंगे क्योंकि आग में डाले हुए कोई भी वपन योग्य बीज पुनः जमते नहीं प्रत्युत जलकर भस्म हो जाया करते हैं और वह सबके सब खुद ही खत्म हो गये तो साधक भी जन्म-मरण के चक्रसे छूट ही जायेगा। क्योंकि उसके अपने कर्म कुछ भी नहीं रहे। यह दूसरा उपाय त्रिलोकचन्द्र भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मुक्ति-प्राप्ति के लिए बताया किन्तु अपनी हर क्रिया को कृष्णार्पण कर देना यह कथनमात्र से संभव नहीं हो सकता। यह वही व्यक्ति कर सकता है जो संप्रज्ञात-योग की आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश कर चुका है वह 'मीरा' और 'नरसी' की तरह से उनके

निमित्त मिट चुका है, जिसको श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त कुछ भी भाता ही नहीं है वह व्यक्ति "तत्सुखेसुखत्वम्।" के भावों को हृदय में अपनाये रहता है उसका खाना-पीना, मरना-जीना अपने प्रयत्न के निमित्त ही बनता है। इन्हीं सब बातों को मध्द्दे नजर रख कर भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों के अन्दर कह दिया—

मदर्थमपि कर्माणि
कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

इसके बाद भगवान श्रीकृष्ण मुमुक्षजनों के लिए चौथा उपाय बतलाते हैं—

अथैतदप्यशक्तोसि
कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततो
कुरु यतात्मवान् ॥

अर्थात् यदि तुम मदर्थ कर्म करने में भी असमर्थ हो तो मेरी सहायता को लेकर के कर्मफल की इच्छा को ही छोड़ दो, यदि ऐसा कर लोगे तो वह भी कल्याण का पूरा साधन बन जायेगा। इसी का नाम निष्काम कर्मयोग का अभ्यास है। यदि मनुष्य निष्काम कर्मयोग का अभ्यासी बन जाया करता है तो वह अपने आप ही कर्म बन्धन से छूट जाया करता है और मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म-
तृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टः-
स्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्व भूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।
तस्माद सक्तः सततं
कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म
परमाप्नोति पूरुषः ।

अर्थात् जो व्यक्ति आत्म-ध्यान-परायण अपने आप में ही मग्न रहने वाला, सब प्रकार से अपने आत्म-स्वरूप में संतुष्ट है वह कुछ भी कर्म करे या न करे वह कर्म-बन्धन में फंसा नहीं रहता, उसको तो उसके सभी कर्म कर्तव्य मात्र के लिये किये जाने वाले होते हैं। इसलिये अर्जुन को आदेश दिया—हे अर्जुन! कर्मासक्ति को छोड़कर कर्म को करो। इस प्रकार कर्म करते हुए अवश्य ही परमपद को प्राप्त हो जाओगे और एक खास बात यह है—

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति
प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य
त्रायते महतो भयात् ॥

अर्थात् इस निष्काम कर्मयोग का अभ्यास यदि थोड़ा सा भी किया जाय तो इसका फल नष्ट नहीं होता, इसका करने वाला मनुष्य सभी प्रकार के अन्तरायों से बच जाया करता है। वह निर्भय होकर संसारमें विचरा करता है। और समय आने पर अवश्य जनकादिकों की तरह से परमपद को पा लेता है। यह चार प्रकार के उपाय गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने परमार्थ प्राप्ति की इच्छा वालों के लिये खोल-खोल कर बता दिये हैं जिससे मुमुक्षुजन परम-श्रेयके भागी बन सकें।

तन्त्र और योग-धारणा

❀ डॉ० श्री रुद्रदेव त्रिपाठी

तन्त्र शब्दार्थ और परिभाषा—

शास्त्रों में तन्त्र शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं, यथा—'सिद्धान्त, शासन, प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, वेदशाखा, शिव-शक्ति आदि देव-देवियों के पूजा-विधायक शास्त्र, आगम, कर्म-काण्ड-पद्धति, तथा विविध उद्देश्यों के पूरक उपाय ।१❀

व्युत्पत्ति की दृष्टि से—

१. तननं तन्त्रम्, २. तन्यते अनेन इति तन्त्रम्, ३. तन्त्रणं तन्त्रम्, ४. तन्त्र्यते अनेन इति तन्त्रम्, ५. तनोति त्रायते चेति तन्त्रम्, इनमें 'तनु-विस्तारे, तन्त्रि-धारणे, तनु के साथ त्रैङ्-पालने' इन धातुओं का प्रयोग हुआ है। परन्तु आगम के पर्याय के रूप में तथा आत्मरक्षामूलक भावना की पुष्टि के रूपमें जो तन्त्र शब्द प्रयुक्त होता है, वही यहां अभिप्रेत है।

जिसके द्वारा सभी अर्थों का विस्तार हो तथा लोग भय से मुक्त हों, वही तन्त्र की तन्त्रता है, ऐसा तन्त्रविदों का कथन है।२❀ इसके अनुसार सभी अनुष्ठानों का विस्तृत ज्ञान तथा उनके प्रयोग द्वारा सम्पादित कर्मों से संरक्षण की प्राप्ति तन्त्र शब्द की परिभाषा सिद्ध होती है।

'कामिकागम' ने भी इसी कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि—विपुल तात्त्विक अर्थों का विस्तार करके जो रक्षा करता है, वही तन्त्र कहा जाता है।३❀ इस प्रकार तन्त्र की परिधि में देवता की उपासना में

१❀— तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे ।
प्रधाने तन्तुद्भवे च शास्त्रभेदे परिच्छदे ॥
श्रुतिशाखान्तरे हेलावुभयार्थ – प्रयोजने ।
इति कर्तव्यतायां च·························॥ (मेदिनी कोष)

२❀— सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः ।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते ॥

३❀— तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्र-समन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥ इति ॥

में उपयोगी बाह्य अथवा आन्तरिक जो - जो अनुष्ठान साधकों द्वारा किये जाते हैं, वे सभी 'तन्त्र' में समाविष्ट होते हैं।

इस तन्त्र के प्रमुख दो भेद हैं—१. ज्ञान और २. विज्ञान। इनमें ज्ञान के पुनः दो भेद होते हैं—१. बहिर्याग और २. अन्तर्याग। इनमें से दूसरा भेद अन्तर्याग योगशास्त्र के विविध विषयों को अपने में आवर्जित करता है।

योग-शास्त्र साधना का एक शाश्वत सहयोगी शास्त्र है।

योग एवं यौगिक प्रक्रियाओं के बिना साधना का मार्ग कभी प्रशस्त नहीं हो सकता है। तन्त्र में उपदिष्ट चक्र-चिन्तन एवं मन्त्र-जप की प्रक्रिया योग के बिना परिपूर्ण नहीं हो सकती। यन्त्रों में अकुलादि चक्रों की विभावना तथा मन्त्रों द्वारा नादानुसंधान का जो निर्देश मिलता है, वह सब योग सम्बन्धी ज्ञान के ही अधीन है। जप के लक्षणों में—१. अवस्थापञ्चक, २. शून्यषट्क, ३. विषुव-सप्तक तथा ४. चक्रनवक का उल्लेख हुआ है, वह यौगिक पद्धति का ज्ञान होने से ही सम्भव है।

'नेत्रतन्त्र' में ध्यान का विषय स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि—

ध्यान तीन प्रकार का है— १. स्थूल, २. सूक्ष्म तथा ३. पर। इनमें पहला 'स्थूल ध्यान पूजन, जप होम और मुद्रा से युक्त ध्यान स सम्पन्न होता है। दूसरा सूक्ष्म ध्यान—चक्रादि के योग तथा कला, नाड़ी आदि के उदय से पूर्ण होता है। तीसरा पर-ध्यान सर्वात्मक है जो कि सिद्ध होने पर मृत्यु को जीतने और मोक्षको देने में समर्थ है।१* यहां सूक्ष्म पदसे 'कुण्डलिनी-योग' तथा पर पद से 'अष्टाङ्ग-योग' का संकेत है। कुण्डलिनी योग कुल-प्रक्रिया के अन्तर्गत होने से 'कौलिकयोग' भी कहा जाता है।

आगमों में 'पादचतुष्टय' का निर्देश करते हुए १. ज्ञान, २. योग ३. क्रिया तथा ४. चर्या। इन चारों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इनमें जो योग-पाद है, उसमें षडङ्ग-योग का प्रतिपादन हुआ है। कहीं-कहीं सप्ताङ्ग अथवा अष्टाङ्ग-योग भी वर्णित है किन्तु वह पतञ्जलि के अष्टाङ्गयोग का अनुसरण नहीं करता।

१*— स्थूलं तु यजनं होमो जपो ध्यानं समुद्रकम् ।
मन्त्राणि मोहनादीनि मन्त्रराट् कुरुते भृशम् ॥
सूक्ष्मं चक्रादियोगेन कलानाड्युदयेन च ।
परं सर्वात्मकं चैव मोक्षदं मृत्युजिद् भवेत् ॥ ९/६ ॥

'स्वच्छन्दतन्त्र' के चतुर्थ पटल में 'षडध्व' के विवेचन के प्रसङ्ग में तथा अन्यत्र बहुत से स्थानों पर बिन्दु, अर्धचन्द्र आदि का विवेचन हुआ है। 'योगिनी-हृदय' के जप प्रकरण में शून्य, विषुवत् आदि का जो व्याख्यान है, वह योग का ही अंग है। 'विज्ञान-भैरव' में तो योग की एक विशिष्ट परम्परा का ही उन्मीलन हुआ है। काश्मीर शैवदर्शन की परम्परा के इस ग्रन्थ में ११२ प्रकार के ध्यानों का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि के तन्त्र ग्रन्थों में सर्वत्र योग का माहात्म्य स्वीकृत है।

तान्त्रिक षडङ्गयोग—

महर्षि पतञ्जलि ने 'योगशास्त्र' में अष्टांग-योग का प्रतिपादन किया है, जबकि शैव-शाक्तादि तन्त्रों में योग के छः अंगों का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन हुआ है। यथा—

प्राणायामस्तथा ध्यानं
प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च
षडङ्गो योग उच्यते॥

इस 'तन्त्रालोक-विवेक' के वचनानुसार इसमें 'यम, नियम और आसन' ये तीन अंग नहीं हैं, जबकि तर्क नामक योगांग नवीन ही उपस्थापित है। 'मालिनी-विजयोत्तर, तथा 'तन्त्रालोक' में भी उक्त योगांग छः ही वर्णित है किन्तु वहां तर्क को योग का एक उत्तम अंग बतलाया है—

योगांग समानत्वेऽपि तर्को योगांगमुत्तमम्।

'मृगेन्द्रागम' में सप्त ङ्ग योग कहा गया है—

प्राणायामः प्रत्याहारो
धारणा ध्यानमुत्तमम्।
जपः समाधिरित्यङ्गान्यङ्गी
योगोऽष्टमः स्वयम्॥

यहां जप को भी योग का अंग माना है। 'पाञ्चरात्रागम' की 'विष्णु-संहिता' में—

प्राणायामोऽथ पूर्वं तु
प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ततस्तर्कः समाधिश्च ध्यानं
चाङ्गानि षट् क्रमात्॥

तथा बौद्ध-तन्त्र-ग्रन्थ 'गुह्य-समाज' में—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं
प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च
षडङ्गो योग उच्यते॥

ऐसा कहा है। ये योगांग सभी उपासकों के लिये सामान्य रूप से पालनीय है।

तान्त्रिक योग-पद्धति—

तन्त्रोंमें प्रवर्तित योग-पद्धति की यह विशिष्टता है कि यहां परमात्मा और जीवात्मा

का सर्वांश रूप से ऐक्य स्वीकृत किया गया है। साथ ही इस जगत् में विविध आकृति नाम और रूप में आविर्भूत शक्तियों के साथ भी साधक ऐक्य-योग को सिद्ध करता है। पूजा के आरम्भ में आचमन के साथ ही प्राणायाम के निर्देश हैं, जिसमें दो, चार, आठ, दस तक प्राणायाम पूरक, कुम्भक और रेचक जन्य आवृत्ति, विलोमावृत्ति आदि प्रक्रियाओं का भी प्रयोग होता है।

जब साधक पूजन से पूर्व अपना परमात्मा के साथ ऐक्य करता है तब दृश्य-जगत् में वर्तमान पञ्चमहाभूतों के विलय से पाप-पुरुष का निरसन करके स्वयं के नवीन शरीर के निर्माण द्वारा स्वयं को देवरूप बनाता है। इसीसे 'देवोभूत्वा देवं यजेत्' की उक्ति सार्थक होती है। इतना ही नहीं, वह साधक अपने प्राणों से ही यन्त्रादि में भी चैतन्यमूर्ति की कल्पना करके इष्ट को प्राण-प्रतिष्ठा करता है। इसी क्रम में तत्तद् देवता के यन्त्र-विग्रहों की उत्पत्ति के भी प्रकारों पर तन्त्रों में विचार हुआ है, जो कि वहीं द्रष्टव्य है।

मन्त्र-योग—

योगशास्त्र में 'मन्त्रयोग' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ है तथा अन्यत्र कहा गया है कि—

न योगेन विना मन्त्रो
न मन्त्रेण विनाहि सः।
द्वयोरभ्यास-योगोहि
ब्रह्मसंसिद्धि-कारणाम्॥

अर्थात्—'योग के बिना मन्त्र नहीं और मंत्र के बिना योग नहीं। अतः दोनों का अभ्यास रूप योग ही ब्रह्म-सिद्धि का कारण है।' इस प्रकार यह 'मन्त्रयोग' भी तन्त्र का ही प्रमुख अंग है। मन्त्रयोग के लक्षण विवेचन में बताया गया है कि—शब्दात्मक मन्त्र के चैतन्य होने पर उसकी सहायता से जीव क्रमशः ऊर्ध्वगति करके शब्दातीत परमात्मतत्त्व में स्थान प्राप्त करता है। वस्तुतः वैखरी शब्द से क्रमशः मध्यमावस्था का भेदन करते हुए पश्यन्ती शब्द में प्रवेश करना ही मन्त्रयोग का मुख्य उद्देश्य है।

यह पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान और चिदानन्दमय है। चिदात्मक पुरुष की यही अक्षय और अमर षोडशी कला बताई है। इस षोडशी कलारूप आत्मा का ज्ञान ही इष्टदेव के साक्षात्कार का अथवा शब्द चैतन्य का फल है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाला जीव कृतकृत्य हो जाता है तदनन्तर अपने आप अव्यक्त भाव उदित होता है। यही शब्द की तुरीयावस्था है। जो कि मूलाधार से शब्द-स्त्रोत बनकर निरन्तर ऊर्ध्व-गमन करती है। यही शब्द समस्त जगत के केन्द्र में नित्य प्रतिष्ठित है परन्तु बहिर्मुखी जीव इन्द्रियों के वश

में होकर विषयों की ओर दौड़ता है इसीलिये वह उसे नहीं जानता। जब क्रिया-कौशल अथवा किसी अन्य उपाय से इन्द्रियों की बहिर्गति रुक जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित हो जाते हैं तब साधक इस चेतन को सुनने में समर्थ होते हैं। षण्मुखी मुद्रा अथवा किसी कृत्रिम उपाय से नादानुसंधान की चेष्टा की जाती है तब प्रेरणा अथवा अभिघात से उत्पन्न शब्द का अनाहत में लय न होने से यह मन्त्र अक्षर समष्टि के रूप में ही स्थिर रहता है। इसके सामर्थ्य और प्रकाश का अनुभव नहीं होता। इडा और पिङ्गला की गति को रोककर प्राण तथा मन का सुषुम्णा में प्रवेश हो जाने पर इस सारस्वत-स्त्रोत का अनुभव होता है। यही साधक को आज्ञा-चक्र में ले जाता है, वहाँ से बिन्दु-स्थान का भेदन कर क्रमशः सहस्रार-केन्द्र में महाबिन्दु तक पहुँचाता है। निरन्तर श्वास-प्रश्वास के द्वारा यह जीव 'हंस' मन्त्र का जप करता है और गुरु-कृपा से प्राणों के विपरीत—भावापन्न होने पर 'सोऽहम्' मन्त्र रूप में परिणत होता है। जीव अविद्याग्रस्त रहने से परमात्मा से स्वयं को भिन्न मानता है। इसलिये इस भिन्नता को छोड़कर जिस ब्रह्म से जीव निकलता है वहीं उसको पुनः लाना 'योग' कहलाता है। अर्थात् जीव एवं परमात्मा का एकीभाव ही योग है। इस प्रकार जीव को मुक्तिपद प्राप्त कराने के लिए जिन साधनों का वर्णन हुआ है वे 'हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग' नाम से प्रख्यात हैं। इनमें शास्त्रोक्त नाम मन्त्र का जप, ध्यानपूर्वक करना ही 'मन्त्रयोग' है।

मन्त्रयोग साधन विधि तथा उसके अंग

मन्त्रयोग के विषय में नाम-रूपात्मक अवलम्बन के सम्बन्ध में देवर्षि नारद आदि ने साधन विधि का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि—

यह सृष्टि नामरूपात्मक है, अतः इसके अवलम्बन से साधक बन्धन से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करता है। इसी भूमिका का अवलम्बन लेकर आगे बढ़ते हुए जहां स्खलन होता है वहीं मनुष्य उससे उचट जाता है, और अध्यक्ष उसे देखता रहता है। ऐसे प्रकृति-वैभव के कारण से साधक नामरूपात्मक भावों से बँध जाते हैं और अविद्याग्रस्त हो जाते हैं। अपनी सूक्ष्म-प्रकृति और प्रवृत्ति का अनुसरण करते हैं नामरूपात्मक शब्द और भाव का अवलम्बन लेकर निरन्तर स्मरण करने वाला ही मन्त्रयोग के फल को प्राप्त करता है इत्यादि।१*

१*— नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥ इत्यादि ।

❀ योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज ❀

❀ कवि भूषण पं० श्री जगदीशशरण बिलगइयां 'मधुप'

चर्म चक्षुओं से जिन्हें, स्वप्न में न देख सकें ,
न्याय मूर्ति ईश, जगदीश नित्य राजते ।
द्रवित अहेतु हेतु, दीन पै दया के धाम ,
मोह, मद, मत्सरादि, शीघ्र ही निवाजते ।
हरि हर रूप, उर-भूमि में, सुनृत्य करें ,
नमित उन्हें उन्हें जो शिव, सत्य-साज साजते ।
शिर चन्द्र धारी, शिवा शाम्भवी पुजारी सदा ,
वही "चन्द्रमोहन" , हमारे बीच राजते ॥

卐 रसना 卐

री रसना ! रसमय बन जा तू , रट ले हरिहर नाम ,
रसना नाम दिया संतों ने , रस विहीन तब चाम ।
दन्तन बीच रहे नित बन्दी , तदपि न तजत हराम ,
चबर-चबर चट बात करत है, लेत न क्षण विश्राम ।
व्यंजन विविध विलक्ष सुख पावत, चाहत आठों याम ,
षट रस स्वाद लेन भोजन हित, लप-लप करत ललाम ।
सब रस छोड़, एक हरि रस ले, कर यह नूतन काम ,
कहत 'मधुप' जगदीश शरण जा, मिले परम पद धाम ॥

[पिछले पृष्ठ का शेष]

इस प्रकार यह नामरूप शब्द और भावमय रूप के आलम्बन से जो साधना होती है उसी को मन्त्रयोग साधना कहते हैं। इसी में मूर्ति पूजा, पीठ-पूजा आदि आ जाते हैं तथा वे सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग के सोलह अंगों का वर्णन भी किया गया है जिसमें भक्ति, शुद्धि, आसन, पंचांग-सेवन, आचार, धारणा, दिव्य-देश सेवन, प्राण-क्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि का समावेश होता है।२❀

इन अङ्गों का विधान बिना तन्त्र का आश्रय लिये कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिये योग तथा तन्त्र का परस्पर सम्बन्ध अन्योन्याश्रयरूप है। अतः प्रत्येक तन्त्रोपासक के लिए योग का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है।

२❀— भक्तिः शुद्धिश्चासनं पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचार-धारणे दिव्यदेश सेवन मित्यपि ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥ इति ॥

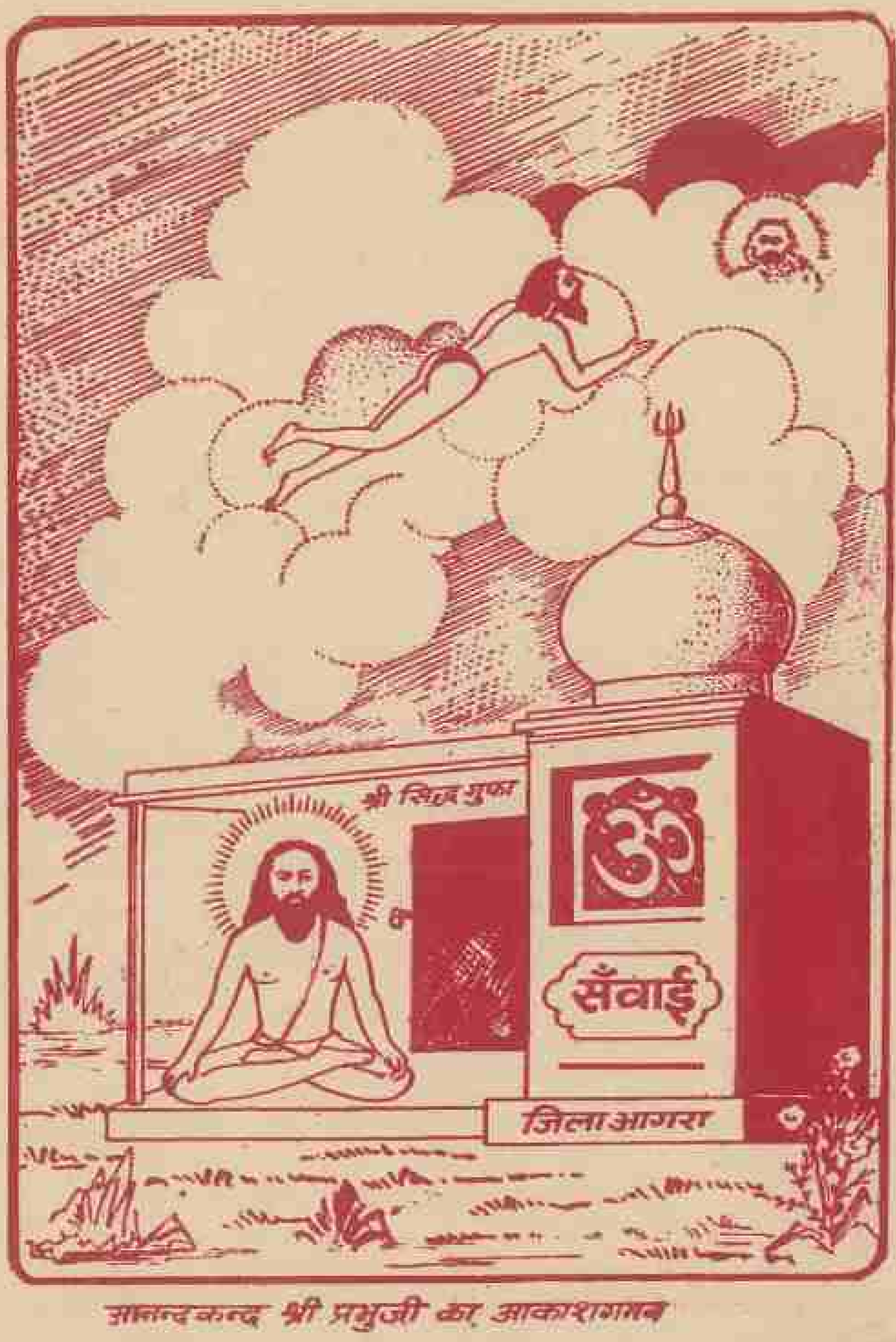

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी का आकाशगमन

सिद्धेश्वर महाप्रभु रामलाल

✽ श्री रामसजीवनसिंह

सिद्धेश्वर प्रभु रामलाल की महिमा बड़ी निराली ,
जो आया इनके चरणों में गया हाथ ना खाली ॥
ग्राम सवाई में भक्तों हित सिद्धगुफा बनवायी ।
जिसके रजमें शक्ति अलौकिक दुखियों ने लखपायी ॥
शक्तिपात करके तड़ाग को अमृत - कुण्ड बनाया ।
चर्म रोगियों ने मज्जन कर जिससे लाभ उठाया ॥
प्यारेलाल व कर्णसिंह को अद्भुत रूप दिखाया ।
जिस प्रकार श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को दर्शाया ॥
चन्दनसिंह की हरी गरीबी देकर अद्भुत माला ।
कूप प्रकट कर सुत को उसके झट चंगा कर डाला ॥
भक्त जौहरी को करुणा कर कृपा-चक्की दीन्हीं ।
इसी बहाने दुखियारे की विपदा सब हर लीन्हीं ॥
अन्धी लड़की के नेत्रों में नई ज्योति दर्शायी ।
मूर्ख विप्रवर को विभूति दे बुद्धी प्रखर बनायी ॥
मेहू सा मल्लाह तर गया रामरती सी नारी ,
योगेश्वर नरसिंह मूर्तिजी इनके बने पुजारी ॥
क्षण में हुई सिद्ध खेचरी बने देवरहा बाबा ।
इनके ही चरणों में बसते हर दम काशी काबा ॥
जिस पर इनकी कृपा हो गई तासु मोह भ्रम भागा ।
जन्म अनेकों भव-रजनी में सोते से उठ जागा ॥
मेरे प्रभू चन्द्रमोहन जी इनकी महिमा गाते ।
महाप्रभू की महा कृपा से महा सिद्ध कहलाते ।
शक्तिपात से 'सिद्धयोग' का उत्तम मार्ग दिखाते ।
जिनकी महिमा हम सब गाते गाते नहीं अघाते ॥

ध्यान-योग की आवश्यकता

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा एम० ए० एम० एड०

मनुष्य असीमित शक्ति का भण्डार है। यदि देश-विदेश के, निकटस्थ-दूरस्थ तथा अपने सम्पर्क में आये सभी व्यक्तियों के ब रे म चिन्तन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचगे कि व्यक्ति की क्षमता इतनी असीमित है कि उसको इदमित्थं रूप से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। मुझे तो ऐसा प्रतीत है कि ईश्वर को जानना उतना कठिन नहीं है जितना मनुष्य को समझना कठिन है। प्राणि-शास्त्र, जीव विज्ञान, समाज विज्ञान, नृतत्व-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान, साहित्य, कला आदि अनेकों प्रकार की चिन्तन-धाराओं के द्वारा मनुष्य को समझने का प्रयास किया गया है किन्तु फिर भी वह दुरूह बना हुआ है। मनुष्य मगर के आंसू बहाने से लेकर अनेकों चेहरे लगाने की कला में निपुणता का दावा तो करता ही है, कभी-कभी, कहीं कहीं बुद्ध, ईसा, गांधी भी बना दिखाई पड़ता है। विनाश और सृजन एक ही मनुष्य में रुई और आग की तरह कैसे एक साथ रहते हैं, आश्चर्य है!

सामान्यतया हम कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का अपने जीवन में प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। इन इन्द्रियों की शक्तियों में भी न्यूनाधिक्य दृष्टिगोचर होता है। कोई अधिक बलवान, तीव्रधावक, कुशलवक्ता है तो कोई दुर्बल, रेंग-रेंग कर चलने वाला मूक प्राणी है। इन शक्तियों के विकास के परिणाम हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि मनुष्य के पास वाह्य दैहिक एवं ऐन्द्रिक चेतना से अधिक अतीन्द्रिय तथा युगीनसंक्रमित अविच्छिन्न चेतना है जिसे उपनिषद् की भाषा में 'भूमा' कहा गया है। उस 'भूमा' में ही शाश्वत सुख तथा दिव्य ज्ञान तथा स्वबोध' है। इन्द्रिय सवलित चेतना अल्प सुख तथा मृत्यु के भय से सदा आक्रान्त है। उससे भिन्न चेतना विराट चेतना है जो गीता में वर्णित 'अवि-भक्तं विभक्तेषु यः पश्यति स पण्डितः' अर्थात् देश, जाति, कुल, नामरूप, शरीर में अनुस्यूत अखण्ड चेतना के रूप में दर्शन का विषय बनती है तथा जिसका साक्षात्कार होने पर ही व्यक्ति सही माने में सर्व धर्म समभाव, मानवतावाद तथा समाजवाद का जीवन्त उदाहरण बनता है यही अवस्था ब्राह्मी स्थिति

है जिसको प्राप्त कर व्यक्ति अज्ञान, मृत्यु, मोह रोग और शोक से मुक्त हो जाता है। वस्तुतः हम जितना मनुष्य को जानते हैं, और स्वयं वह भी जितना अपने को जानता है, वह सिन्धु में बिन्दु के बराबर है।

शास्त्रों में मनुष्य की चार अवस्थायें— जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय तथा चार शरीर—स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा निर्वाण एवं पांच कोश—अन्नमय, मनोमय, प्राणमय आनन्दमय एवं विज्ञानमय— बताये गये हैं। यह सभी अवस्थायें एक ही अधिष्ठान में मल, आवरण तथा विक्षेप की दीवारों में शक्तियों की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों के रूप में उसी प्रकार विद्यमान रहती हैं जिस प्रकार एक नारियल के फल के अन्दर भिन्नता होते हुए भी फलरूप से एकरूपता होती है। फल के ऊपर जटायें, उनके नीचे कठोर आवरण, आवरण के अन्दर शून्य, उसमें पुनः अपेक्षाकृत कम कठोर आवरण, उसके अन्दर पुनः शून्य और उसमें द्रव पदार्थ या पुनः शून्य। व्यक्ति भी इसी तरह विभक्त तथा परिसीमित है। वैज्ञानिकों का मत है कि मानव मस्तिष्क की जितनी जानकारी प्राप्त की जा सकती है, उसके अनुसार मानव मस्तिष्क में कोषों की संख्या लगभग दस अरब है। किन्तु उनमें से अधिकांश निष्क्रिय अवस्था में पड़े रहते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य कुछ सौ कोशों की क्रिया से ही जीवन भर काम लेता है। शेष स्नायुकोश कभी कभी विशेष अवस्था में सक्रिय हो जाते हैं तो व्यक्ति में दूरदर्शन, दूरश्रवण, भूत, भविष्य तथा वर्तमान का ज्ञान उदित हो जाता है। इस तथ्य की परीक्षा करने के लिए कनाडा के स्नायु विशेषज्ञ डा० पेनफील्ड ने एक व्यक्ति के मस्तिष्क कोशों को विद्युत संचार से उत्तेजित किया। जैसे ही विद्युत धारा से कुछ कोश सक्रिय हुए वह व्यक्ति बीस वर्ष पूर्व देखी एक फिल्म के अनुभव से संयुक्त हो गया और उसे उसके दृश्य तथा संवाद यथावत् याद आ गये।

ध्यान-योग के अभ्यास से देश तथा काल की दीवारें टूट जाती हैं। ऊर्जा का ऐसा विस्फोट होता है कि मल आवरण तथा विक्षेप नष्ट हो जाते हैं और मानव की अनंत सम्भावनायें ऋद्धियों-सिद्धियों के रूप में प्रकट होने लगती हैं। अचेतन तथा अवचेतन मन के द्वारा शरीर की अन्तःस्रावी ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति का जागृत व्यवहार एक दम भिन्न हो जाता है। कभी-कभी किसी आघात या रोग के फलस्वरूप भी व्यक्ति की स्मृति लुप्त हो जाती है तथा उसकी क्रिया अद्भुत हो जाती है जिस पर उसका नियन्त्रण नहीं रहता और कभी-कभी सामान्य दशा में लौटने पर उसका ज्ञान भी नहीं रहता।

इस प्रकार की एक घटना जो सन् १८८८ ई. में इंग्लैण्ड में घटी उसका विवरण फ्रांस के मनोरोग चिकित्सक डा० जैने ने अपनी पुस्तक 'सोमनेमबूलिज्म' (निद्राचार) में प्रकाशित किया है। एक डाक्टर गहरी नींद में उठकर पुलिस थाने के आस-पास लोगों की विचित्र ढङ्ग से हत्या करता था। शवच्छेद क्रिया की पुनरावृत्ति कर वह डाक्टर हत्या करने के बाद एक कोट पहन कर घर वापिस आ जाता तथा हत्या के लिए प्रयुक्त नश्तर तथा कैंची को अपनी अलमारीमें रखकर सो जाता। इस प्रकार उसने सो के लगभग हत्याय कर दीं और इनके विषय में उसे भी कोई पता नहीं था और न पुलिस को कोई पता चल सका। पुलिस के गुप्तचर विभाग के लिए दिन-प्रतिदिन की विचित्र ढङ्ग की ये हत्यायें हैरानी का कारण बन गईं !

एक साधारण व्यक्ति की अतीन्द्रिय-शक्ति ने उस प्रतिष्ठित डाक्टर को अपने एक स्वप्न के आधार पर पकड़ वाया। उस व्यक्ति का नाम जेम्सलोज था। उसने एक भयानक स्वप्न देखा और उसी के आधार पर पुलिस को डाक्टर के घर ले जाकर खड़ा कर दिया। डाक्टर ने हत्याओं के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। अन्ततोगत्वा हत्याओं में प्रयुक्त नश्तर कैंची तथा खून के धब्बों वाले कोट से उसे पकड़ा गया। जब उसे अपने कृत्यों का ज्ञान कराया गया तो वह अचेतनावस्था के उन घृणित कार्यों का बोध होते ही आत्मग्लानि से भर गया। यह अवस्था उस डाक्टर की ही नहीं थी। हम सभी काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा अज्ञान की अवस्था में सतरज तथा तमोगुण के प्रवाह में न जाने क्या-क्या कर्म करते रहते हैं जिससे हमारा कर्माशय तैयार होता रहता है और योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार-'सतिमूलेतद्विपाकः जात्यायुर्भोगाः' कर्मप्रवाह के परिणामस्वरूप पाप-पुण्य भोगने के लिए जाति, आयु और कर्म-भोग के साधन समुपस्थित होते हैं। यह प्रवाह ही हमें नाना योनियों में घुमाता रहता है और दर्शक की भाषा में यही हमारे बन्धन का हेतु बनता है।

ध्यान योग की साधना योग की अन्तरंग साधना है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, तथा प्रत्याहार बहिरंग साधना मानी जाती है क्योंकि इनमें इन्द्रियों तथा उनके विषयों की पारस्परिक क्रियाओं का सम्बन्ध होता है। धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग साधना है। निर्बीज समाधि के परिप्रेक्ष में ये भी अन्तःकरण से सम्बन्धित होने के कारण बहिरंग साधना है क्योंकि इनमें संस्कारों की क्रिया चलती रहती है। धारणा जब परिपक्व हो जाती है तो वही ध्यान बन जाती है। योगशास्त्र के आचार्य भगवान पतञ्जलि धारणा

को ही योग का प्रारम्भ मानते हैं। इससे पहले की क्रियायें योग की तैयारी-मात्र हैं। मानव चित्त की चार अवस्थायें होती हैं क्षिप्त, विक्षप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्था रहते योग की प्राप्ति नहीं होती। योग का अर्थ है अविच्छिन्न चेतना की उपलब्धि, सूर्य चन्द्र का संयोग, जीवात्मा, परमात्मा का संयोग तथा अपान प्राण का योग। प्रत्याहार की परिपक्वता ही धारणा में बदल जाती है। विषयों से मन को हटाकर आत्मा की ओर अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार कहलाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति बन जाने पर चित्त को एक जगह इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा) जब चित्त एक स्थान पर इकट्ठा होने लग जाता है तब तेज की धारा के समान अनवरत तथा अविच्छन्न चित्त का ध्येयाकार हो जाना ध्यान कहलाता है। ध्यान की परिपक्वावस्था में समाधि बन जाती है। समाधि ध्यान की उच्चावस्था है, प्रत्याहार उसकी प्रारम्भिक अवस्था है।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है—ध्यान अन्तरंग अवस्था है। जैसे घर के अन्तरंग स्थल पर हर व्यक्ति का प्रवेश नहीं होता। उसका अधिकार पत्र लेकर किसी मार्ग-दर्शक की सहायता से ही उसमें प्रवेश सम्भव है। सत्व-शुद्धि से चित्त-शुद्धि होती है और तब चित्त में सतोगुणोद्रेक होकर एकाग्रता आती है। एकाग्रता प्राप्त होने पर उसका भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में विनियोग करने पर विचित्र शक्तियों का उदय होता है। जैसे नाभिचक्र में स्थित अग्नि-मण्डल के सूर्यमें धारणा करने से भुवन-मण्डल का ज्ञान हो जाता है। ध्यान-योग के द्वारा अचेतन मन की सभी पर्तें खुल जाती हैं और चेतन धरातल पर सारे संस्कार उभर आते हैं जिससे मन प्रसन्नता तथा आह्लाद से भर जाता है और हृदय में प्रेमका उदय होता है। योगी ही दूसरों से सच्चा प्रेम करता है अन्य लोगों का प्रेम दिखावा मात्र है। ध्यान द्वारा घोर असाध्य रोगों से आसानी से छुटकारा मिल जाता है तथा कर्म-बन्धन शिथिल होने लगता है। जहाँ एक ध्यान योगी निवास करता है वह स्थान सतोगुण के परमाणुओं से भर जाता है। ध्यान-योग परायण व्यक्ति अपने पुण्यों के प्रताप से सात पीढ़ी तक पूर्वजों को सद्गति प्रदान करा सकता है। ध्यान की कला बिना गुरु कृपा के सुलभ नहीं होती। अनवरत अभ्यास द्वारा शनैः शनैः ध्यान उपलब्ध होने लगता है। मनकी चंचलता मंत्रजप से धीरे-धीरे कम होने लगती है और अन्तर्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मा के प्रकाश का दर्शन पाकर उसी में मन लीन रहने लगता है। एक बार मन को इस अवस्था का संस्पर्श हो जाय तो बाहरी आकर्षण फीके लगने लगते हैं और अपनी मस्ती का आलम छलकता रहता है।

卐 卐 卐

पातिव्रत और योग

श्री रवी सरिता भारद्वाज एम. ए., बी.-एड. सांख्ययोग आचार्य

योग सार्वभौम विद्या है। सभी धर्म, जाति, देश, लिंग तथा आयु के व्यक्ति योग अभ्यास द्वारा सुख-दुख से रहित शाश्वत शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। तथा योगी बनकर भव-भास्कर के सन्ताप से आत्मरक्षा करते हुए आनन्द का जीवन जी सकते हैं। नारियाँ पुरुषों से किसी क्षेत्र में पीछे रहने वाली नहीं हैं। वे शक्ति-स्वरूपा हैं। उन्हें अपनी शक्ति का जब तक बोध नहीं होता तब तक वे स्वयं नारकीय जीवनयापन करती हैं और मानव-शरीर लेकर भी वासनामय संसार का विस्तार करके इस पावन पवित्र जीवन को कलहपूर्ण बनाती है। इतिहास साक्षी है तपस्विनी और योग-परायणा देवियों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश तक को अपने तपोबल से भक्ति के बल से सगुण, साकार रूप में अपना पुत्र बनने को विवश कर दिया। देवी कौशल्या की गोद में अज, निर्गुण, निराकार ब्रह्म, राम बन कर खेले और यशोदा की गोद में त्रिलोकी के नाथ कृष्ण रूप में आकर भक्ति के वशीभूत होकर बालक बन गये। सावित्री जैसी पातिव्रत-परायणा तपस्विनी देवी ने काल का विधान ही बदल दिया और अपने पति सत्यवान की मृत्यु से रक्षा की।

योग साधना का अर्थ सामान्यतया यही समझा जाता है कि आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि का अभ्यास करना योग कहलाता है। योग का यह पक्ष तो है ही, एक दूसरा पक्ष भी है जिसे आत्म-समर्पण या योग की भाषा में प्रणिधान भी कहते हैं। वह समर्पण परम गुरु ईश्वर, गुरुदेव अथवा पतिदेव के प्रति किया जाय तो वह एकाग्रता का सम्पादन करने वाला अनन्य योग या प्रेमयोग सिद्ध होता है। गोपियां इसी योगमार्ग की साधना करने वाली थीं। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत्गीता नामक योगशास्त्र में संकेत किया है:—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अतोर्ध्वम् न संशयः॥

अर्थात् अपने आराध्य के मन में मन, चित्त में चित्त, बुद्धि में बुद्धि, अहंकार में अहंकार और प्रकृति में प्रकृति लय कर देने से आराधक तद्रूप हो जाता है और उसमें

अपने इष्ट के गुण-धर्म और शक्ति-सामर्थ्य स्वतः आ जाते हैं। गोपियों ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण की पतिरूप में इसी प्रकार की साधना की थी। सूफी साधना-पद्धति भी पति - पत्नी भाव के प्रेम की बहुत उच्चकोटि की साधना है जिसकी पूर्णता एक का दूसरे में समर्पण करने से होती है। साधना के इस रहस्य को आजकल बहुत कम देवियां जानती हैं। आज-कल की नारियां सन्त-शिरोमणि तुलसी के कथन की साकार मूर्ति बनती जा रही हैं— 'अवगुण आठ सदा उर रहहीं'......... साहस अनृत चपलता माया आदि अवगुणों की खान बनती जा रही है। जब गृहलक्ष्मी और घर की शक्ति ही अवगुणों का भण्डार बन जायें तो उनसे उत्पन्न होने वाली सन्तान दैवी सम्पत्ति शाली कैसे हो सकती है? प्रकृति का सिद्धान्त है कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। इस नियम के अनुसार यदि अपने देश को ऋषि-मुनियों का देश बनाना है तो सबसे पहले इस देश की ललनाओं को सती सावित्री, सीता, अनुसुईया जैसी योगिनी बनाना होगा। क्योंकि पवित्र आत्मायें सत्कर्मी माताओं की कोख में ही जन्म लेने आती हैं। भगवान राम को प्राप्त करने के लिये कौशल्या ने शतरूपा के रूप में कितनी कठोर तपस्या की थी।

रामकृष्ण परमहंस स्त्रियों के लिये दो रूप बताया करते थे – विद्या और अविद्या। विद्यारूपा देवियां मधुर बोलने वाली, पति को ही अपना परम आराध्य मानती हैं और तन मन से पति की सेवा करना परमधर्म मानती हैं। उनका चित्त पति में इतना अनु-रक्त रहता है कि वे अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य को पुरुष रूप से नहीं देखतीं। सभी में पुत्र या भाई की भावना रखती हैं। उनका आचरण पति को निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। उनका जीवन पति को वासना के नरक में गिराने वाला न होकर ज्ञान, वैराग्य और भक्ति-पथ पर अग्रसर करने वाला होता है। विद्यास्वरूपा देवियां अपनी देह-बुद्धि से ऊपर उठी हुई होती हैं। वे स्वयं अपने समर्पण द्वारा पति की शक्ति बन जाती हैं और परमार्थ पथ की पथिक बन कर साधना-पथ के काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के आक्रमणों से पति की सदा रक्षा करती हैं। एक तरह वे पति का कवच बन जाती हैं। ऐसी देवियां सच्चे अर्थों में योगिनी कहलाती हैं। इसके विपरीत जो अविद्या-रूपिणी स्त्रियां हैं, वे वास्तव में आठ अवगुणों की खान होती हैं। वे हर समय व्यर्थ का वाद-विवाद कर घर का वातावरण अशान्त बनाये रखती हैं। उनकी वाणी में मिठास नाम की कोई चीज नहीं होती। उनके शब्द तीर की तरह कलेजे को बेध देते हैं बात बनाना, चुगली करना और हर समय शृंगार, साड़ी, आभूषण तथा चाट-पकौड़ी की चर्चा करने के अतिरिक्त उनके पास और कुछ नहीं

होता। वे अपनी देह में ही घिरी रहती हैं। देह को सजाना और उसी के लिये सब साधन जुटाने में ही उनका जीवन नष्ट हो जाता है।

'हीरा जन्म अमोल था, कौड़ी कीमत जाय'

वाली कहावत चरितार्थ होती है। अविद्या-रूपिणी स्त्रियों में फिजूलखर्ची होती है जिसके कारण वे पति को हर समय नयी-नयी फरमाइशों से अपनी इच्छाओं का गुलाम बनाकर रखती हैं जिससे पति को अन्याय और अधर्म करके उनको सजाने का उपाय करना पड़ता है। पति बेचारा जप, ध्यान, पूजा अतिथि सत्कार तथा परोपकार करना भी चाहे तो उसे ऐसी देवियों की कृपा से सुबुद्धि नहीं हो पाती और न अवसर ही मिल पाता है। ऐसी नारियों के लिये ही शंकराचार्य ने नारी को नरक का द्वार कहा है। वे पुरुष के मन को भोग और वासना की दलदल से निकलने ही नहीं देतीं और अपने नारकीय जीवन से घर को कलहपूर्ण बना कर दुःख और सन्ताप से भर देती हैं। उनका रूप पुरुष के लिए और भी अभिशाप होता है। नीतिकारों ने इसीलिये कहा है---'भार्यारूपवती शत्रुः।' देहासक्ति से ऊपर उठकर ऐन्द्रिय जगत् से परे दिव्य आनन्द के दर्शन का कभी उन्हें सौभाग्य नहीं मिलता। ऐसी देवियों के कोख में कभी दिव्य आत्मायें नहीं आ पातीं। जो विद्यास्वरूपा होती है, वे देह और गेह में अपने पति को कम से कम लगाकर रखना चाहती हैं। वे जानती हैं कि जप, तप, ध्यान और योग के द्वारा अक्षय पुण्य का संचय होता है। यदि वे स्वयं घर की सेवा में लग कर किफायत से घर चला सकें, पति के मन को अपने व्यवहार से प्रसन्न रख सकें तो उन्हें परमार्थ-पथ पर बढ़ने का समय मिल सकेगा। उनके पुण्यों में से आधा भाग उन्हें स्वतः अपनी सेवा के बदले में मिल जायेगा। इसके विपरीत अविद्या रूपिणी स्त्रियां कहती हैं हम पुरुषों से क्या कम हैं। वे अपेक्षा करती हैं कि उनके पतिदेव ही क्यों न उनकी सेवा करें। सेवा को वे गुलामी समझा करती हैं। जब भी उन्हें अपने काम से फुर्सत मिलती है तो वे दूसरों के घर जाकर जब तक सारे मुहल्ले की निन्दा न कर लें तब तक मानों उन्हें भोजन हजम नहीं होता। उनका सारा समय पाप-संचय करने में लगा रहता है। विद्या रूपा चाहती है:—

'रूप दे तो शक्ति भी दे,
पति-चरण में भक्ति भी दे।'

अविद्यारूपानारी अपने नश्वर रूप पर गर्व करके व्यभिचार को निमन्त्रण देती रहती हैं। वे किसी अन्य महिला से मिलती हैं तो उनकी जिज्ञासा का क्षेत्र है—ये साड़ी कितने की ? मेरे पास इतने आभूषण हैं। 'आज मैंने बड़ी स्वादिष्ट चीजें बनायीं हैं।' विद्यास्वरूपा

ईश्वर की दी हुई वस्तु को ईश्वर के समर्पण करने में ही अपना अहोभाग्य समझती हैं, इसलिए मधुर कण्ठ पाकर प्रभु का नाम-संकीर्तन करती हैं, सुन्दर रूप पाकर दीन-दुखियों की सेवा कर उसे सार्थक करती हैं। एक सन्त कहा करते थे कि जब तक पति नहीं मिलते तब तक स्त्री उसको रिझाने के लिये तरह-तरह का शृंगार करती हैं जब उसके हृदय में पति के प्रति सच्चा प्रेम पैदा हो जाता है, फिर शृंगार की कोई जरूरत नहीं रहती यदि स्त्री फिर भी चमक-दमक का शृंगार करती है, तो समझना चाहिये कि उसके हृदय में पति के प्रति सच्चा प्रेम पैदा नहीं हुआ। उसका प्रेम या तो वस्त्रों में और आभूषणों में है, अथवा वह पति के अतिरिक्त किसी अन्य को प्रेम करती है। अपने पति के चरणों में अनुराग उत्पन्न हो जाय तो अनुराग उसका सबसे बड़ा शृंगार बन जाता है। पति-परायणा नारी के लिये सन्तो ने कहा है:—'पतिव्रता नंगी भली'। जिसके मन में पति के प्रति भक्ति उदित नहीं हो सकी, उसकी सन्तान में कभी मातृभक्ति और पितृभक्ति नहीं आ सकती। क्योंकि पत्नी का व्रत, तीर्थ, यज्ञ सब कुछ पति सेवा में निहित है। मार्कण्डेय पुराण में अनुसूया का वचन है:—

सर्वकामफलावाप्तिः

पत्यु सुश्रूषणात्स्त्रियाः।

अर्थात् पति सेवा से पत्नी की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। तथा:—

पुण्यस्यार्ध्यंपहारिण्य:

पति सुश्रूषयैव हि।

नास्तिस्त्रीणांपृथग्यज्ञो

नश्राद्धं नाप्युपोषितम्॥

अर्थात् स्त्रियां पति-सेवा से ही उनके सब पुण्यों से आधा भाग प्राप्त कर लेती हैं। उनके लिए पति सेवा से अतिरिक्त यज्ञ, श्राद्ध अथवा उपवास का अलग से कोई विधान नहीं है। पातिव्रत सबसे बड़ा तप है। 'काय वचन मन पति पद प्रेमा' यह पातिव्रत धर्म का मूल मंत्र है। पातिव्रत धर्म का पालन करने से देवियों ने असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया है। मार्कण्डेय पुराण में दत्तात्रेय और अलर्क का उपाख्यान आता है। पातिव्रत के प्रभाव से माण्डव्य मुनि का शाप कुछ अनिष्ट नहीं कर पाया। और सती-साध्वी अनुसूइया ने कैसे कुशिक वंशी ब्राह्मण की रक्षा की, यह बहुत मार्मिक प्रसंग इस प्रकार है।

प्रतिष्ठान नगर में कौशिक गोत्र का एक ब्राह्मण रहता था। उसे पूर्व जन्म तीव्र संवेग से किये गये पाप कर्म के फलस्वरूप कुष्ठ रोग हो गया। उसकी पत्नी पति-परायणा थी, अतः कोढ़ी होने पर भी वह तन, मन, धन से उसकी सेवा करती थी और देवभाव से पूजा

करती थी क्योंकि नारी के लिये पति ही देव-तुल्य है। वे ही उसकी सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण करते हैं। सीताजी को अनुसूइया ने उपदेश देकर इसी रहस्य का उद्‌घाटन किया था:—

मातु पिता भ्राता हितकारी।
मितप्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता वैदेही।
अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपद काल परखिअहि चारी॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुःख नाना॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा।
काय वचन मन पतिपद-प्रेमा॥

वह उसके मल मूत्र, रक्त, कफ को धोती, घाव धोती, चरण दबाती, प्रिय बचन तथा विनीत भाव से आदर के साथ उसकी सेवा कर अपना धर्म-पालन करती। जब पाप-कर्मों का प्रबल संस्कार होता है तो बहुत से और पाप-कर्म भी उस समय बन जाया करते हैं। कौशिक ब्राह्मण उस विनीत भाव वाली पत्नी को बुरा भला कहता रहता था क्योंकि क्रोध में व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। और क्रोध का कारण काम होता है:—

कामात् क्रोधोऽभिजायते।
—गीता।

घिनौने रूप वाला वह ब्राह्मण, जिसमें चलने तक की शक्ति न थी, एक दिन अपनी पत्नी से बोला कि तू मुझे राजमार्ग के पार्श्व-गृह में रहने वाली उस वेश्या के घर ले चल जिसे मैंने एक बार देखा, तभी से वह मेरे हृदय में बस गयी है। यदि वह मुझे न मिली तो तू मुझे मृत पायेगी। मुझमें स्वयं चलने की सामर्थ्य नहीं है और वह मुझे चाहती है या नहीं, इसका मुझे ज्ञान नहीं। कामातुर पति की बात सुनकर पतिव्रता व्याकुल हो गयी। धैर्य धारण कर पति की प्राण-रक्षा के लिये वह उसे कन्धे पर रखकर अंधेरी रात-में बिजली की चमक से ऊबड़खाबड़ मार्ग को पार करती हुई चल पड़ी। आगे मार्ग में चोरी के झूठे अपराध में माण्डव्य मुनि शूली पर चढ़े हुए दुःख भोग रहे थे। मार्ग में अंधेरा होने से पत्नी उनसे टकरा गयी जिससे कौशिक मुनि का पैर ऋषि से लग गया। क्रोध से आग-बबूला होकर माण्डव्य मुनि ने दम्पत्ति को शाप दिया—जिसने मुझे पैर से ठोकर मारी है, वह पापी सूर्योदय होते ही यन्त्रणा भोगता हुआ यमपुर का अतिथि बन जायगा। इस शाप को सुनकर उसकी पत्नी चिन्तित हुई। फिर उसने निश्चय किया कि

मैं अपने पातिव्रत के प्रताप से हे सूर्योदय तुम्हें आदेश देती हूँ कि तुम उदित न होना।

अनेक रात्रियाँ बीत गयीं और पतिव्रता के प्रताप से सूर्योदय नहीं हुआ। तब देवता भयभीत होकर विचार करने लगे कि सूर्योदय के बिना यज्ञ, दान आदि क्रियायें कैसे होंगी? स्वाध्याय, जप, तप, स्वधा और स्वाहा के लुप्त होने से विश्व की रक्षा कैसे होगी? यज्ञ के बिना देवता तृप्त न होंगे तब तक जल और औषधियों के लिये वृष्टि कैसे करेंगे। देवता नीचे की ओर जल बरसाते हैं और मनुष्य उनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ, दान, तप देवताओं को ऊपर की ओर देते हैं इससे सृष्टि का सन्तुलन बना रहता है। इस क्रम के टूटते ही जल, अग्नि, सूर्य, वायु और पृथ्वी को देवता दूषित कर पृथ्वी पर दारुण रोग पैदा कर देते हैं। जो यज्ञ अवशिष्ट भाग लेते हैं वे गीता में कहे हुए सिद्धान्तानुसारः— 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।' ब्रह्म पथ के अमृत पथिक बन जाते हैं चिन्तित होकर देवता इसका समाधान ढूंढ़ने ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने देवताओं को उपाय बतायाः—

तेजः परंतेजसैव तपसा च तपस्तथा ॥

अर्थात् परम तेज और तप से ही तप-प्रदत्त शाप का नाश हो सकता है। यदि तुम सूर्योदय चाहते हो तो तुम परम पतिव्रता महर्षि अत्रि की पत्नी को विनय और सेवा से प्रसन्न करो। देवताओं ने वैसा ही किया। प्रसन्न होकर अनुसूया बोली- हे देवो! मुझसे तुम क्या चाहते हो? देव विनयपूर्वक बोले— पहले के समान सूर्योदय हो जाय जिससे मनुष्य लोक के प्राणी यज्ञ, दान, तप आदि पुण्य कर्म कर सकें। अनुसूया देवताओं की प्रार्थना सुनकर चिन्तित हो उठीं—

पतिव्रतायामाहात्म्यं न हीयते कथंचिति।

अर्थात् पतिव्रता का वचन और उसकी महिमा कभी नष्ट नहीं होती। यदि आप लोग चाहते हैं तो मैं ऐसा कोई उपाय करूंगी जिससे पतिव्रता के सम्मान की रक्षा भी हो जाय—उसके पति की शाप के कारण मृत्यु न हो—और सूर्योदय भी हो सके।

अनुसूया कौशिक ब्राह्मण की पत्नी के पास गयीं और उनके पति की कुशलक्षेम पूछी। पतिभक्ति के महात्म्य को सुनाकर अनुसूया ने उस पतिव्रता की श्रद्धा को और दृढ़ किया और बोलीं - हे देवी! जिस प्रकार तुम अपने पतिदेव को देवताओं से भी श्रेष्ठ मानती हो, उसी प्रकार मैंने भी पतिदेव की सेवा से तप की महान शक्ति प्राप्त की है। शक्ति प्राप्त करने का शास्त्रोक्त उपाय यही है कि व्यक्ति सदा सत्य, सरलता, तप, दान, दया-परायण

रहे और राग-द्वेष रहित होकर शक्ति-अनुसार श्रद्धापूर्वक अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करता रहे। उससे मनुष्य सब लोकों को प्राप्त कर लेता है।

सत्यार्जव तपोदान
दयायुक्तो भवेत्सदा।
क्रिया च शास्त्र निर्दिष्टा
रागद्वेष विवर्जितः॥
कर्षं व्याहरहः श्रद्धापुर-
स्कारेण शक्तितः।
स्वजाति विहितानेवं लोकान्
प्राप्नोति मानवः॥

मार्कण्डेय पु० ५९,६०

पत्नी की परमगति पति ही है। 'बिन-श्रम नारि परमगति लहहीं।' अतः तुम अपने स्वामी की सेवा में लगी रहो। स्वामी द्वारा किये जाने वाले पितर, देवता, अतिथि-सत्कार तथा सत्कर्म सभी में पति सेवा-परायण स्त्री को आधा भाग प्राप्त होता है। कौशिक ब्राह्मण की पत्नी ने अनुसूया के वचन सुनकर उनका पूजन किया और बोलीं कि आपके दर्शन से मैं अनुगृहीत हूँ क्योंकि आपने स्वामी के प्रति मेरी श्रद्धा को और भी बढ़ा दिया है। 'नार्याभर्त्ता हि दैवतम्' नारी के लिये पति के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है क्योंकि उनका देवता पति ही है। अब आप मुझे आदेश दीजिये कि मैं क्या करूँ। अनुसूया बोलीं—हे साध्वी! तुम्हारा आदेश मान कर सूर्य देव प्रकट नहीं हुए जिससे दिन रात का भेद समाप्त होने से प्रकाश के अभाव में सत्कर्म नष्ट हो गये। यज्ञकर्मों के अभाव से अनावृष्टि हो गयी जिससे विश्व में हाहाकार मच गया है। इस विपत्ति से संसार की रक्षा करो और सूर्य उदित होने दो। ब्राह्मणी बोली, माण्डव्य मुनि ने क्रोध में मेरे स्वामी को शाप दिया है। कि सूर्योदय होते ही तेरे स्वामी की मृत्यु हो जायेगी। अनुसूया बोलीं, हे कल्याणि! मैं अपने पातिव्रत धर्म के प्रभाव से ऐसा नहीं होने दूँगी। ऋषि का शाप मिथ्या नहीं हो सकता। अतः मृत्यु हो जाने के बाद मैं तुम्हारे पति के शरीर को पूर्ववत् स्वस्थ कर दूँगी। क्योंकि तुम्हारे व्रत की रक्षा करना भी मेरा धर्म है।

अनुसूया ने अर्घ्य देकर सूर्य का आवाहन किया। दस रात्रियां व्यतीत होने के बाद रक्तकमलाभ सूर्य उदयाचल में प्रकट हुए और इधर ब्राह्मण का प्राणान्त हो गया। अनुसूया ने खिन्नमना ब्राह्मणी को सान्त्वना देते हुए कहा—हे भद्रे! विषाद न करो। मैंने पति सेवा के तपोबल से जिस शक्ति को प्राप्त किया है, वह तुम्हें अभी दिखाती हूँ। ऐसा कह कर उसने ब्राह्मण की ओर देख कर कहा—"मैं रूप, शील, बुद्धि, वाणी, माधुर्य आदि

सद्गुणों में अपने स्वामी के समान किसी अन्य को नहीं मानती तो मेरे इस सत्य के बल से यह ब्राह्मण रोगरहित युवावस्था को प्राप्त हो और पुनर्जीवित होकर सौ वर्ष तक पत्नी सहित जीवित रहे। यदि मैं अपने स्वामी के समान किसी अन्य देवता को नहीं मानती और मन, वाणी, शरीर से मैंने अपने स्वामी की नित्य आराधना की हो तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाय।" तपस्विनी अनुसूया के वचन कहते ही उसका तेजोमण्डल ब्राह्मण के प्राणकोष में क्रिया करने लगा और वह ब्राह्मण रोगमुक्त युवक रूप में उठ खड़ा हुआ। देवताओं ने पुष्पवृष्टि और देववाद्यों की ध्वनि की और प्रसन्न होकर अनुसूया ने कहा, हे कल्याणि! तुमने देवताओं का उपकार किया है, अतः देवता तुम्हें वर देना चाहते हैं। अनुसूया बोली - कि ये मेरा नहीं, मेरे पातिव्रत धर्म का प्रभाव है। जो उत्तम कोटि की पतिव्रता होती है, वे परम योगिनी बन जाती हैं क्योंकि योगी में मन की एकाग्रता से शक्ति आती है। योगी परम तत्त्व के साथ अपने मन का लय कर देता है, उससे उसका मन परम-सत्ता की शक्ति वाला बन जाता है, जैसे जल की बूंद समुद्र में मिलकर समुद्र ही बन जाती है। जिस प्रकार गुरुदेव के चरणों की भक्ति अन्तर्गत के खजाने की कुञ्जी है, उसी प्रकार पति-चरणों की अनुरक्ति उस परम-पति की शक्ति पानेकी कुञ्जी है। सीताजी को इसीलिए नारिधर्म का उपदेश देते हुए अनुसूया ने उन्हें पातिव्रत धर्म का ही उपदेश दिया। क्योंकि वही शक्ति पाने का मूल रहस्य है। चार प्रकार की पतिव्रतायें कही गयी हैं:—

जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं।
बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पति-बंचक पर पति-रति करई।
रौरव नरक कल्प सत परई॥
छनसुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परमगति लहई।
पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई।
बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥
सहज अपावनि नारि,
पति सेवत सुभगति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि,
अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

यह पातिव्रत धर्म का उपदेश सभी देश और सभी कालों के लिए आचरणीय है क्योंकि इसके बल से मृत को जीवनदान, शाप का शमन तथा पतिव्रता के बचनों की रक्षा अनुसुया ने करके दिखा दी, और इसी के प्रताप से उसने संसार के आवागमन के चक्र को उच्छेद करने वाले योग को भी देवताओं के आशीर्वाद से प्राप्त किया। यह योग आत्मा में आत्मा का संयोग है तथा मोक्ष का कारण और त्रिविध दुखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है। जिससे जीव की पंचभूतों के साथ पुनः संगति नहीं होती और मन और शरीर भवरूपी भास्कर के सन्ताप से सन्तप्त नहीं होता तथा अविद्या रूपी काल सर्प से दंशित नहीं होता उस योग के प्राप्त करने के ऋषियों और आचार्यों ने देश, काल और पात्र का शक्ति-सामर्थ्य से अनेक उपाय बताये है। गीता में—भगवान श्रीकृष्ण ने स्वधर्म के पालन को भी योग प्राप्ति का साधन माना है। स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते-नरः' तथा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।' अर्थात् व्यक्ति जिस परिस्थिति में भी है उसी में रहकर पूरी निष्ठा के साथ उस कार्य को करते हुए उसे ही ईश्वर का कार्य और उसकी सेवा समझता है उस पर ईश्वर का अनुग्रह होता है और वह उसकी कृपा से परम योगी बन जाता है।

नारी भी अपने धर्म का पालन करती जाय तो धर्म पालन से उसकी धारणा पुष्ट होती जाती है। क्योंकि धर्म का लक्षण मनु महाराज ने कहा है—धारणात् धर्ममित्याहुः-जीवनाधायक गुण और आचार धर्म है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' अर्थात् सदाचार धर्म की प्रथम सीढ़ी है। 'धारणासु योग्यता मनसः' यह योगदर्शन का सूत्र है। इसका अर्थ है धारणा पुष्ट होने पर मन में शक्ति ग्रहण तथा शक्ति उत्पन्न करने की योग्यता पैदा हो जाती है। ध्यान तथा समाधि धारणा की विकसित-अवस्थायें हैं। पतिपरायणा स्त्री के हृदय में श्रद्धा और प्रेम परिपूरित रहा करता है जिससे उसका मन एकाग्र होकर शक्ति का निधान बन जाता है। पतिव्रता नारी संप्रज्ञात योग की अधिकारिणी हो जाती है। उसका हृदय श्रद्धा का खजाना तो होता ही है। यदि वह अपने पातिव्रत धर्म में दीक्षित हो जाती है तो सत्य और तप से वह आत्म-तत्व का साक्षात्कार कर सकती है। जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है:—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।

अविद्यारूपी नारी योग मार्ग की बाधा बन जाती है। जिस प्रकार घर में एक स्त्री सुशिक्षित हो तो पूरा परिवार शिक्षा प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार यदि घर में एक दैवी सम्पत्ति वाली नारी हो तो वह घर को

स्वर्ग बना सकती है और अपने पति को कुपथ से हटाकर सत्पथ पर लगा सकती है। प्रेम की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। यदि पत्नी के मन में पति के प्रति सच्ची अनुरक्ति है तो उसके प्रेम पाश से वह बड़े से बड़े कार्य कर सकता है। उसका प्रेम पाश-भव पाश भी बन सकता है और उसका प्रेम पाश उसे तुलसी जैसा संत भी बना सकता है। स्त्री के पत्नीत्व की सार्थकता इसी में है कि वह शक्तिस्वरूपा बनकर अपने पति को शिवत्व में प्रतिष्ठित कर दे। नारकीय कीड़ा बनाने से वह स्वयं भी अधोगति को प्राप्त करती है और अपने साथ घर की पूरी नाव डुबा देती है। नारी प्रजनन और भोग के लिए ही नहीं है वह योग के लिए परम सहायक है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरणगुप्त ने 'यशोधारा' काव्यमें यशोधारा के मुख से यह प्रश्न उठाया है--'योग मार्ग की बाधा नारी !' फिर उसकी क्या गति है? यदि नारी अपनी शक्ति को कल्याण मार्ग में मोड़ दे तो वह पति की साधना में सहायक बनकर उसे शिव बना सकती है और मदालसा अपनी सन्तान को बनाकर ब्रह्मज्ञानी, धर्मात्मा बना सकती है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे अपनी माता की कृपा से ही हुए हैं, तुलसी ने उसी माताको धन्य बताया है जिसका पुत्र भक्त तथा योगी बन जाता है-

पुत्रवती युवती जग सोई।
रघुवर भक्ति जासु सुत होई॥

पतिव्रता की कोख से ही योगी, ज्ञानी, भक्त तथा भगवान जन्म लेते हैं। ✿✿

❀ सद्गुरु से सीखिए ❀

मनुष्य की दृष्टि की यह आदत-सी पड़ गई है कि वह उसी का अस्तित्व मानती है जो उसे दिखाई पड़ता है, और जो वस्तु गुह्य होती है उसे वह गोप्य कहता है। पर जो कुछ प्रकट है, उसे असार समझना चाहिए, और जो गुप्त है, उसे सार समझना चाहिए। यह बात गुरु से ही अच्छी तरह समझी जा सकती है। जो समझ में न आवे, उसे विवेक बल से समझना चाहिए, जो दिखाई न पड़े, उसे विवेक-बल से देखना चाहिए, और जो जान न पड़े, उसे विवेक-बल से जानना चाहिए। जो गुप्त हो, उसे प्रकट करना चाहिए, जो असाध्य हो, उसका साधन करना चाहिए, और जो कठिन हो, उसका अभ्यास करना चाहिए। वेद, ब्रह्मा और शेषनाग भी जिसका वर्णन करते-करते थक गये हैं, उसी परब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए। यदि कोई पूछे कि उसकी साधना कैसे की जाय, तो इसका उत्तर यह है कि कि अध्यात्म-सम्बन्धी बातें सुनकर उस परब्रह्म की प्राप्ति करनी चाहिए। वह पृथ्वी, जल, तेज या वायु नहीं है, वह रङ्ग-रूप आदि से व्यक्त नहीं होता, वह अव्यक्त है। उसी को ईश्वर समझना चाहिए।

—समर्थ रामदास ✿✿

समत्वं योग उच्यते

श्री मनमोहनकृष्ण त्रिखा

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में परम-योगी का लक्षण बताते हुए कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं
पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं
स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६/३२)

जो योगी सब भूतों में समभाव रखता है और सुख और दुख को सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ है। भगवान श्रीकृष्ण ने तो सम-भाव को ही योग कहा है। देखिये गीता के अध्याय दो का यह श्लोक—

योगस्थः कुरु कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ॥
(गीता २/४८)

भगवान श्रीकृष्ण ने उपरोक्त श्लोक में अर्जुन को आदेश दिया है—अर्जुन सिद्धि-असिद्धि एवं आसक्ति को छोड़कर सम बुद्धि रखता हुआ कर्म कर, क्योंकि समत्व-भाव को ही योग कहा जाता है।' हमारे मन में एक प्रश्न उठ सकता है—हमें सम-भाव से क्यों रहना चाहिए? या सम-भाव वाली बुद्धि बना लेने से हमें क्या लाभ होगा? इसके उत्तर में भगवान ने गीता में निम्नलिखित श्लोक कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा
लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व
नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
(गीता २/३८)

अर्थात् हे अर्जुन, अगर लाभ-हानि, सुख-दुःख एवं हार-जीत को बराबर समझ कर युद्ध करेगा तो तुझे पाप नहीं लगेगा। अगर हम इस प्रकार के कर्म-फलों को समान दृष्टि से देखेंगे (यह तभी सम्भव है जब हम कर्म-फलों की इच्छा न करें।) तो हमें पाप नहीं लगेगा अर्थात् हमें कर्म नहीं बांधेंगे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि हमारे किसी भी प्रकार के संस्कार नहीं बनेंगे। भगवान ने इस ओर गीता में संकेत दिया है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो
द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च
कृत्वापि न निबध्यते ॥
(४/२२)

जो व्यक्ति स्वतः ही जो कुछ प्राप्त हो जाये उसमें सन्तुष्ट रहता है, हर्ष एवं शोकादि द्वन्द्वों से परे है ईर्ष्या रहित है और सिद्धि-असिद्धि में समभाव रखता है यह कर्म करते हुये भी कर्मों से बँधता नहीं है। यहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने हमें कर्म करने का ऐसा कुशल मार्ग बताया है जिससे हम कर्म तो करेंगे परन्तु उनसे बांधे नहीं जायेंगे ।

समभाव का अर्थ केवल यह नहीं है कि हम कर्म-फलों में समत्व बुद्धि रखें बल्कि यह भी है कि हम सब जीवों के अन्दर (और बाहर भी) उस परमपिता परमात्मा पर ब्रह्म का अभिन्न अंश देखें। गीता में भगवान ने यह स्पष्ट रूप से कहा है--

विद्याविनयसंपन्ने
ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च
पण्डिताः समदर्शिनः ।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां
साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म
तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
(गीता ५/१८, १९)

जो व्यक्ति ज्ञानी है वे विद्वान एवं विनम्र ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को को समभाव से देखते हैं। अर्थात् वे सब में परम-पिता परमात्मा के अंश के ही दर्शन करते हैं और उन्हें प्रभु का अंश ही मानते हैं। भगवान श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि जिनका मन समभाव में स्थित हो गया है उन्होंने इस जीवित अवस्था में ही सारे संसार को जीत लिया है, क्योंकि ब्रह्म (सच्चिदानन्द भगवान) निर्दोष और सम है। इस प्रकार वे (सम-भाव रखने वाले) भी ब्रह्म में स्थित है। इस बात की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी यह कह कर की है--'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। भगवान सबमें समान रूप से व्याप्त है। यह नहीं है कि कहीं (या किसी में) भगवान अधिक है या किसी में कम ।

यह सारी सृष्टि प्रभु की रचना है और प्रभु ही समय आने पर इसका विनाश कर देते हैं। इसलिए इस सृष्टि को नाशवान कहा गया है लेकिन प्रभु हमेशा वैसे के वैसे ही रहते हैं, उनका न आदि है और न ही अन्त है। मुण्डकोपनिषद् में सृष्टि की रचना के बारे में तीन बहुत सुन्दर उपमायें दी गई हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥
(अ० १, मंत्र ७)

जिस प्रकार से मकड़ी अपने अन्दर से जाले की तार निकाल कर जाला बुनती है और फिर जाले को खा जाती है। इन क्रियाओं में मकड़ी को किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार से भगवान भी इस सृष्टि की रचना अपने में से ही करते हैं और समय आने पर अपने में लीन कर लेते हैं। यह सब कार्य बहुत आसानी से करते है। यहां एक सन्देह उठ सकता है कि जिस प्रकार मकड़ी जाला किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु बनाती है, क्या उसी प्रकार भगवान सृष्टि-रचना में कोइ उद्देश्य होता है ? दूसरी उपमा में इस सन्देह का निवारण कर दिया गया है—जिस प्रकार, पृथ्वी पेड़-पौधों को बड़ी आसानी से और बिना किसी उद्देश्य हेतु अपने भीतर से ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार भगवान इस जगत और दूसरे जगतों की रचना बिलकुल आसानी से और बिना किसी उद्देश्य के करते हैं। यहां एक सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि क्या भगवान पृथ्वी की तरह अचेतन हैं ? इस शंका का निवारण तीसरी उपमा में हो जाता है—जिस प्रकार मनुष्य के शरीर व सिर पर बाल बिना किसी प्रकार के कष्ट के और बिना किसी उद्देश्य के उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यह सृष्टि उस चेतन-ब्रह्म द्वारा बिना किसी कष्ट एवं उद्देश्य के रची जाती है। मुण्डकोपनिषद् के दूसरे अध्याय के पहले मन्त्रमें प्रभु की सर्वव्यापकता और सृष्टि-रचना का बड़ी स्पष्टता से उल्लेख किया गया है—

तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्
विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥
(अ० २/मंत्र १)

अर्थात् यह सत्य है कि जिस प्रकार जलती हुई आग में से हजारों उसी प्रकृति (प्रकार) के पतंगे निकलते हैं उसी प्रकार से शाश्वत प्रभु अपनी ही प्रकृति (किस्म) के बहुत स जीव उत्पन्न करता है जो उसी में ही वापिस मिल जाते है। ऊपर दिये गये वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु सर्वव्यापक हैं और सम-रूप से सर्वव्यापक हैं।

अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि सम-भाव उत्पन्न होने से क्या लाभ होता है या दूसरे शब्दों में समभाव उत्पन्न होने पर क्या होता है ? भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व-
भूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा
सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र
सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां
भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि
स योगी मयि वर्तते ॥
(गीता ६/२९, ३०, ३१)

सर्वव्यापकता सच्चिदानन्द भगवान में सम-भाव में स्थित योगी सबको समभाव से देखता है और आत्मा को सब जीवों में और सब जीवों को आत्मा में देखता है (बर्फ में जल के सदृश)। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति सब भूतों में मुझे और मुझ में सब भूतों को देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता। जो समभाव से स्थित हुआ जीव-मात्र में मुझे भजता है वह योगी सब प्रकार से बर्तता हुआ भी मेरे में बर्तता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में आगे कहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं
यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र
समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं
ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १३/२७/२८)

जो सभी नाशवान चराचर भूतों में शाश्वत भगवान को समभाव से देखता है, वही देखता है। क्योंकि सबमें समान रूप से समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को देखता हुआ वह स्वयं द्वारा अपने आपको नष्ट नहीं करता है अर्थात् देह-नाश को आत्म-नाश नहीं मानता। इससे उसको परम गति मिलती है।

अब तक हमने यह जानने का प्रयास किया है कि समभाव का क्या अर्थ है? और सम-भाव से कौन सी गति प्राप्त होती है? अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि हम में समभाव क्यों नहीं उत्पन्न होता। हमें सब भूतों में भगवान क्यों नहीं दिखाई देते। इसका उत्तर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के सातवें अध्याय में दिया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया ।

ध्यानयोग एवं आत्मसाक्षात्कार

श्री सूरजप्रकाश शर्मा

ध्यानयोग समाधि के द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार होता है। इस पर शास्त्र लिखते हैं:—

नचक्षुषागृह्यते नापिवाचा
नान्यैर्देवैस्तपसाकर्मणावा।
ज्ञानप्रसादे न विशुद्धसत्त्व स्तत-
स्तुतंपश्यतेनिष्कलंध्यायमानः॥
मु० ३॥ खण्ड १॥८॥

सूक्ष्मतर आत्मा चक्षुःइन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वाक्य, श्रोत्र आदि इन्द्रियों और चान्द्रायण आदि तप करके व अग्निहोत्र आदि कर्म करके भी प्रत्यक्ष नहीं होता। तप व कर्म चित्त शुद्धि द्वारा आत्म प्रत्यक्ष के साधन हैं। अतः केवल तप व कर्मों को करके आत्म प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। ज्ञानरूप सत्त्वगुण की निर्मलता करके, रजोतमोगुण की निवृत्ति कर विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष आत्म-प्रत्यक्ष के योग्य होता है। उस आत्मप्रत्यक्ष की योग्यता से अनन्तर ध्यान करता हुआ

(पिछले पृष्ठ का शेष)

मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता ७/१४)

मेरी त्रिगुणमयी माया बड़ी अलौकिक है और अत्यन्त दुस्तर है। इसीलिए एक संत ने कहा है—'माया महा ठगनि मैं जानि।' भगवान श्रीकृष्ण ने इस अपनी माया से तरने (पार करने) का तरीका भी बता दिया है 'जो केवल मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं, संसार से तर जाते हैं।

अब हमें यह ज्ञान हो गया है कि प्रभु की माया बहुत बलवान है और उसको पार करने का एक ही साधन है और वह है—मन्त्र-जप और ध्यान। अगर हम श्री सद्गुरुदेव भगवान द्वारा बताये तरीके से नियमित रूप से मन्त्र-जप एवं ध्यान करेंगे तो प्रभु की माया को अवश्य ही पार कर लेंगे और हममें समभाव उत्पन्न हो जायेगा जिसको भगवान श्रीकृष्ण ने योग कहा है—

समत्वं योग उच्यते।

पुरुष उस निरवयव आत्मा को प्रत्यक्ष करता है।

महर्षि आश्वलाय ने ब्रह्माजी को कहा कि हे भगवन् ! ब्रह्म विद्या को कहो, उस को ब्रह्मा जी इस प्रकार कहने लगे कि:—

तस्मैसहोवाच पितामहश्च श्रद्धा-भक्ति ध्यानयोगादवै हि ॥

[कै० ख १॥२॥

श्रद्धा भक्ति के सहित ध्यानयोग से "ब्रह्म-साक्षात्कार" ब्रह्म विद्या प्राप्त होती है।

यजुर्वेद की कठउपनिषद् में यमराज जी नचिकेता को इस प्रकार कहते हैं:—

तंदुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेनदेवं
मत्वाधीरोहर्ष शोकोजहाति ॥

इस मन्त्र पर शंकर भाष्य—

विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतसः आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मनं धीरोधीमान् हर्षशोका वात्मन उत्कर्षापकर्षयो रभावाज्जहाति ॥

भाष्य पर गोपालेन्द्र यती की टीका—

अत्रधीरो बुद्धिमानिति श्रवणमनन-सत्त्वमुच्यते अध्यात्म योगशब्देन निदि-ध्यासनमुच्यते मत्वेति साक्षात्कार उच्यते।

टीका व भाष्य के सहित उपनिषद्-मन्त्र का अर्थ— यमराज कहते हैं कि—हे नचिकेतः देह से भिन्न जो आत्मा तुम ने पूछा है, वह आत्मा दुर्दर्श है क्योंकि शब्द, स्पर्श रूप रस आदि विषयकार वृत्तियों से प्रछन्न है। जीवों की बुद्धि रूप गुहा में स्थित है दुःख से साधनों के कष्ट से प्रत्यक्ष होता है जिसको ऐसे सना-तन आत्मदेव को 'धीमान' श्रवन मनन रूप साध्य वाला विवेकी पुरुष आत्मा में समाधि को प्राप्ति कर आत्मदेव को साक्षात् करके हर्ष शोक से रहित होता है।

महर्षि गोतम का न्याय शास्त्र भी इस प्रकार बताता है कि —

समाधि विशेषाभ्यासात् ।

[अ० ४॥आह्निक २॥ सूत्र ३८॥

अर्थ—समाधि विशेष के अभ्यास से आत्म तत्व का साक्षात्कार होता है।

देखिये याज्ञवल्क्यस्मृति—

इज्याचारदमाहिंसा
दानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयन्तु परमोधर्मो
यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

अर्थ—यज्ञ, स्नानादि आचार, इन्द्रियों

का निरोध, अहिंसा, दान, वेदपाठ इत्यादि धर्म कर्म यह परम धर्म है जो योग कर आत्म-साक्षात्कार करना है।

अब देखिए मनु स्मृति—

प्रियेषुस्वेषु सुकृतम-
प्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्यध्यानयोगेन
ब्रह्माभ्येतिसनातनम्॥
[अ० ६।।७६।।

अपने हितकारी जनों में पुण्य को और अहितकारी जनों में पाप को फेंक कर ध्यानयोग कर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है, अर्थात् हितकारीजन हितकर्म कर पुण्य भागी, द्वेषीजन द्वेषकर्म कर पाप भागी होते हैं, सनातन ब्रह्म की प्राप्ति ध्यानयोग करके होती है।

योग वासिष्ठ—

वासनाक्षयविज्ञान
मनोनाश महामते।
समकालंचिराभ्यस्ता-
भवन्तिफलदामुने॥
एकैक शोनिषेव्यन्ते
यद्यं तेचिरमप्यलम्।
तन्नसिद्धिं प्रयच्छन्नित
मन्त्राः संकीलिताइव॥

अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों के ज्ञान से जो उन पदार्थों के संस्कार चित्त में उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से फिर उन पदार्थों की स्मृतियां व इच्छा उत्पन्न होती है। वह संस्कार यहां वासना का अर्थ है। उन संस्कारों का तिरोभाव होना क्षय शब्द का अर्थ है। स्मृति आदि वृत्तियों के उत्पादन में असमर्थता ही संस्कारों का तिरोभाव है क्योंकि जब तक चित्त रहे तब तक संस्कारों का अत्यन्त लय नहीं हो सकता, किन्तु तिरोभूत हुए असंख्य संस्कार चित्त में बने रहते हैं। जो स्मृति आदि वृत्तियों के उत्पादन में समर्थ न रहें, वह तिरोभूत संस्कार कहलाते हैं। ऐसा अनात्मपदार्थों के संस्कारों का तिरोभाव वासनाक्षय का अर्थ है।

निरवयव आत्मकार वृत्ति विज्ञान व तत्त्वज्ञान का अर्थ है। अनात्माकार वृत्तियों का निरोध मनोनाश का अर्थ है।

वसिष्ठ जी राम जी से कहते हैं:—

हे वीतराग महामते राम जी— तत्त्वज्ञान, मनोनाश, वासनाक्षय यह तीनों एककाल में इकट्ठे चिरंकाल अभ्यास करे हुए आत्मसाक्षात्कार द्वारा मोक्षफल के देने वाले होते हैं। यदि एक एक का अलग अलग चिरकाल का भी अभ्यास करें अर्थात् कदाचित आत्माकार वृत्तियों का प्रवाहरूप तत्त्वज्ञान का अभ्यास करें और मनोनाश, वासनाक्षय का अभ्यास नहीं करें, फिर कदाचित अनात्मकार वृत्तियों का निरोध रूप मनोनाश का अभ्यास करें,

और वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान का अभ्यास नहीं करें, पुनः कदाचित अनात्म पदार्थों के संस्कारों का तिरोभाव रूप वासनाक्षय का अभ्यास करें और तत्त्वज्ञान मनोनाश का अभ्यास नहीं करें।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न काल में एक-एक का अलग-अलग अभ्यास करें, तो यह आत्म-साक्षात्कार व मोक्षरूप फल को नहीं देते, जैसे मूर्छा, मरण आदि दोषों से प्रतिबद्ध मन्त्र फल को नहीं देते।

अनात्मकार वृत्तियों का निरोधरूप मनोनाश के सहित आत्माकार वृत्तियों का प्रवाह-रूप तत्त्वज्ञान के अभ्यास करने से अनात्म-पदार्थों के संस्कारों का तिरोभावरूप वासना क्षय भी साथ होता रहता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश, वासनाक्षय का एककाल में इक्कठा अभ्यास होता है, एवं इन तीनों का इक्कठा चिरकाल अभ्यास करने से आत्म-प्रत्यक्ष व मोक्षरूप फल होता है।

अनात्माकार वृत्तियों के निरोधरूप मनोनाश के सहित आत्मकार वृत्तियों का प्रवाह-रूप तत्त्वज्ञान का अभ्यास ही योगाभ्यास है उस के बिना नहीं। किन्तु उक्त योगाभ्यास से ही आत्मसाक्षात्कार व मोक्षफल सुलभ है। वसिष्ठ जी कहते हैं।

श्रद्धा भक्ति ध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्ते-

र्हेतून् वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः।

[विवेक चूडामणि ॥४६॥

मुमुक्षु के लिए श्रद्धाभक्ति ध्यानयोग यह मुक्ति के हेतु है वेदवाणी साक्षात् कह रही है।

ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा

पश्यन्तियंयोगिनः।

(भगवद्गीता)

परमात्मा के ध्यान में स्थित मन करके योगीजन जिस आत्मदेव को प्रत्यक्ष करते है।

सर्वभूतस्थमात्मानं

सर्वभूता नचात्मनि।

ईक्षतेयोगयुक्तात्मा

सर्वत्रसमदर्शनः ॥

(अ० ६/२९/ गीता)

योग से युक्त है अन्तःकरण जिसका वह योगयुक्तात्मा कहलाता है, जिसका कदाचित् भी परिणाम नहीं किन्तु सर्वदा 'सम, समान रहे ऐसा परमात्मा यहां समपद का अर्थ है, ऐसे सम परमात्मा का 'दर्शन, साक्षात्कार होता है जिससे वह समदर्शनः व समदर्शी कहलाता है। ऐसा सर्वत्र 'समदर्शी, परमात्म-दर्शी योगयुक्त पुरुष ब्रह्मा आदि पिपीलिका आदि सब भूतों में स्थित आत्मा को तथा आत्मा में सब भूतों को प्रत्यक्ष करता है।

इस प्रकार उक्त प्रमाणों के द्वारा सिद्ध हो चुका कि योग के बिना आत्मसाक्षात्कार

नहीं हो सकता। समाधि योग के बिना आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। अब और प्रबल प्रमाण दिखलाता है।

नाविरतोदुश्चरिता
नाशान्तोनासमाहितः।
नाशान्तमानसोवापि
प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात ॥
[क० उप० अ० १॥ व०२॥२४

जो पुरुष पाप कर्म से निवृत नहीं हुआ, व इन्द्रियों की चंचलता से शान्त नहीं है, व 'असमाहित है, समाधि अवस्था को' प्राप्त नहीं है, व समाहित हुआ भी सिद्धियों की कामना वाला है, वह मनुष्य इस आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु पापों से निवृत्त शान्त इन्द्रिय सिद्धियों की कामना से रहित समाहित हुआ पुरुष आत्मा को प्राप्त हो सकता है।

स्वयंवेद्यंचतद्ब्रह्म
कुमारी स्त्रीसुखंयथा।
अयोगी नैव जानाति
जात्यन्धोहियथाघटम् ॥
[दक्ष स्मृति अ० ७॥२६॥

स्वयं जानने योग्य वह ब्रह्म है जैसे कुमारी स्त्री का सुख स्वयं ही जाना जाता है, अयोगी पुरुष ब्रह्म को नहीं जान सकता, जैसे जन्मान्ध पुरुष नीले पीले घट को नहीं जान सकता।

यह बिल्कुल निश्चय व सिद्ध सिद्धान्त है कि योग के बिना परमगति कदापि नहीं प्राप्त होती है।

नतुयोगमृतेशक्या
प्राप्तुं सापरमागतिः।
अवबन्धोहिबुद्धस्य
कर्मभिर्नोपपद्यते ॥
[शान्ति पर्व अ० ३२१॥५२॥

योग के बिना वह परमगति प्राप्त नहीं हो सकती, जीवन्मुक्ति विद्वान् को कर्मों का बन्धन नहीं होता।

योगमेकंविहायाय
मानन्दात्मामहेश्वरः।
नैववाचानमनसा
प्राप्तुंशक्योनचक्षुषा ॥
[आत्मपुराण अ० ६॥७२३॥

आनन्दकंदरूप महेश्वर परमात्मा महाप्रभु एक योग के बिना, न वाक्यों से प्रत्यक्ष हो सका है, न मन से अर्थात् न श्रवन से और न ही चक्षुओं द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

निर्विकल्पकसमाधिनास्फुटम्
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यतेध्रुवम्।
नान्यथाचलतयामनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥
[विवेक चूडामणि ॥३६५॥

निर्विकल्प समाधि द्वारा ब्रह्म तत्त्व स्फुट प्रत्यक्ष किया जाता है। "अन्यथान" निर्विकल्प समाधि के बिना प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि व्युत्थान अवस्था में मन की दशा की चंचल होकर अनात्माकार वृत्तियों से मिश्रित मन होता है।

आचक्ष्वशृणुवातात

नाना शास्त्राण्यनेकशः।

तथापितवनस्वास्थ्यं

सर्वविस्मरणादृते ॥

(अष्टावक्र गीता) ॥ प्र० १६॥१॥

हे तात् शिष्य—नाना शास्त्रों को अनेक प्रकार से तुम कथन कर या श्रवण करे तो भी सब के विस्मरण के बिना अर्थात् निर्विकल्प (असंप्रज्ञात समाधि) के बिना तुम्हरा मोक्ष नहीं होगा।

हरोयद्युपदेष्टाते

हरिः कमलजोपिवा।

तथा पिनतवस्वास्थ्यं

सर्वविस्मरणादृते ॥

(अष्टावक्र गीता) ११

यदि महादेव भी तेरा उपदेष्टा हो, या विष्णु या ब्रह्मा भी तेरा उपदेष्टा हो तो भी "सर्व के विस्मरण के बिना" असम्प्रज्ञात समाधि के बिना तुम्हारा मोक्ष नहीं होगा।

सर्व का विस्मरण असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में ही होता है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में भी अज्ञान विषयक तमोगुण विषयक वृत्ति ज्ञान होता ही है।

— क्रमशः

❀ कैवल्य की व्याख्या ❀

तद्वैराग्यात् अपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् योगसूत्र

उसका भी वैराग्य होने से बन्धन-रूपी दोष-बीज का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

चित्त के भावों पर विजय प्राप्त होती है और बुद्धि सर्वग्राही बन जाती है, लेकिन इसकी भी अस्मिता मन में रह जाती है। तब यही समझना चाहिए कि द्रष्टा मन से पूरा अलग नहीं हुआ, बल्कि मन के साथ एक रूप ही हुआ है। बन्धन तो इसीसे है। फिर मोक्ष कैसे मिलेगा ? इसलिए द्रष्टा को इसका जरा भी भान नहीं रहना चाहिए। द्रष्टा केवल अपने स्वरूप में ही रहे, देह की सब सात्विक क्रियाएँ, गुण, शक्ति, ज्ञान— ये सब-के-सब प्रकृति के हैं, या तो ईश्वर के हैं— इस प्रकार का भाण उसको अखण्ड रहे, यही मोक्ष है।

* श्री राघवेन्द्र तिवारी

तुम मौन मत रहो मेरे मित्र

तुम मौन रहो मेरे मित्र !
देख तो लेते सही
पार्थ की धमनियों में उफनता
गीता का कर्मयोग
भीष्म की इच्छा मृत्यु
शर शय्या पर पड़े रहने की
एक अटूट साधना
(क्या नहीं था यह सब
योग का चमत्कार ?)
जिनसे जरा–व्याधि
रहती थी कोसों दूर
उस ओर !
ठीक उस ओर !!
देख तो लेते मेरे मित्र !
नहीं था उस समय
दूषित पर्यावरण
ना ही प्रदूषण ग्रस्त
भीषण वातावरण
तब नहीं था
वायु कोषों में हवा का
दूषित स्वरूप
किन्तु फिर भी
उन सभी के कर्तव्यों में
योग का था समावेश
और जब यह
आज का परिवेश
नाना व्याधियों से ग्रसित,
शरीर–सागर में
तुम्हें जूझने को
किये है विवश
तुम योग से कतरा रहे हो !
मौन मत रहो मेरे मित्र
क्या गांडीव के तनाव की तरह
तुममें साहस नहीं ?
क्या मन्त्र-पूत नहीं रहे हैं
तुम्हारे व्यक्तित्व ?
क्या धार्मिक संवेदनायें
तुम्हारी हो गयीं हैं शून्य ?
या तुम स्वयं कतराते हो
अपने तर्कों से ?
क्या तुम में जीवन के प्रति
नहीं रही है कोई आस्था ?
या तुम स्वयं को दे रहे हो
निरन्तर एक धोखा ?
मौन मत रहो मेरे मित्र !
तुम्हारे समस्त अवयव
कितने हैं बहुमूल्य !
तुम्हारा नाड़ी तन्त्र
क्या नहीं ढोता है
किसी ईश्वर को ?
या तुम नहीं मान पाते हो
आभार,
उस असीम सत्ता का ?

[शेष पृष्ठ २६ पर]

卐 गीतोक्त योग साधना 卐

✽ डा० श्री जे० पी० अवस्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, आगरा कालेज, आगरा

सचाई तो यह है कि ज्ञान दिया नहीं जा सकता है, ज्ञान हो जाता है। परन्तु ज्ञान उसी को हो जाता है जिसमें ग्राहकता होती है। वर्षा सर्वत्र होती है परन्तु अंकुर वहीं उत्पन्न होता है जहां भूमि में उर्वरकता होती है। भूमि की उर्वरकता के समान ही मानवी चेतना में ग्राहकता का तथ्य होता है। परन्तु जिस प्रकार उर्वरकता विशेष प्रकार के रासायनिक तत्वों का परिणाम होता है उसी प्रकार ज्ञान-ग्राहकता विशेष प्रकार के अनुकूल संस्कारों का परिणाम होता है। अस्तु, किसी को कब, कितना ज्ञान हो जायगा इसका भविष्य कथन नहीं किया जा सकता है। फिर भी मानव समाज में ज्ञान को वितरित करने की प्रक्रिया चलती ही रहती है, क्योंकि इससे ज्ञान की ऊंचाइयां और गहराइयां सुरक्षित रहती हैं। अस्तु, ज्ञान के सम्बन्ध में यह भी स्थापित किया जा सकता है। प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को प्रत्येक व्यक्ति पचा भी नहीं सकता है। अतः ज्ञान-दाता का कर्तव्य है कि वह पात्रानुसार ज्ञान-दान करे अन्यथा ज्ञान-वितरण केवल कहने सुनने का विषय हो जाता है और ज्ञान के मर्म को न समझने वाले इसके विपरीत विद्रोह खड़ा करते हैं या आडम्बर फैलाते हैं और कलाकार ज्ञानी ज्ञान को व्यापारिक वस्तु बना डालते हैं।

[पिछले पृष्ठ का शेष]

क्या तुम यह स्वीकारते हो
कि तुममें
निहित वह अनन्त आत्मा
तुमसे नहीं है सायुज्य ?
मौन मत रहो मेरे मित्र !
साक्षी हैं ये वनस्पतियां
साक्षी हैं सभी वेद और श्रुतियां
कि—
तुम्हारे पास निश्चित है
एक आलोक
उसे तुम देख क्यों नहीं पाते
तुम्हारी देह एक ऊषा नगर है
आओ और उगते हुये
अरुणाभ सूर्य को देखो
जो नित्य ही होता है उदित
तुम्हारे ब्रह्मांड की
सूक्ष्म तम तरंगों में,
मौन मत रहो मेरे मित्र !!!

वर्तमान युग में योग-ज्ञान के नाम पर कुछ ऐसा ही हो रहा है। कुछ ने योग का व्यापारीकरण कर डाला है तो कुछ राजयोग को उसके मौलिक रूप में व्याख्या तो करते हैं परन्तु योगारूढ़ता की स्थिति और उसके उपाय इतने दुस्तर हैं कि विरले ही योगाभ्यस्त हो पाते हैं। योग विद्या को हस्तान्तरित करने में आज के इने गिने वास्तविक योगी जो भूल करते हैं वह दो प्रकार की होती है। एक तो यह कि वे छलांग मारकर 'ध्यान' को ही योग मान लेते हैं और यह भूल जाते हैं कि 'ध्यान' होने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा के स्तर अपरिहार्य हैं। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान) स्वयं में इतने कठिन हैं कि आज का सामान्य मानव इनका पालन नहीं कर पाता है। राजयोग के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि के अनुसार यम और नियम के अभाव में योगारूढ़ होना असम्भव है। उनके अनुसार हठयोग से राजयोग की श्रेष्ठता इसी में है कि राजयोग में चित्त की वृत्तियों के परिष्कार के क्रमिक सोपान हैं लेकिन हठयोग में ऐसा नहीं है। राजयोग में चित्त-वृत्तियों को पुचकार कर शान्त किया जाता है परन्तु हठयोग में वृत्तियों को बलात् दलित किया जाता है। परिणामतः राजयोग की साधना में स्थायित्व आता है और हठयोग में अस्थायित्व एवं वृत्ति-विस्फोट के खतरे बने रहते हैं। इसीलिये आज के युगमें राजयोग और हठयोग दोनों ही प्रजातांत्रिक साधनायें न होकर कुलीनतंत्रीय साधनायें हैं। आशय यह कि ये दोनों सर्व-साधारण के लिए आज अनुपयुक्त हैं। सच्चा योगी युग धर्म पहचान कर कृष्ण की तरह सैद्धान्तिक क्रान्ति करता है और दूरूह सिद्धान्त या साधना की मौलिकता को सर्व-ग्राह्य बना देता है। पतञ्जलि योग को ही कृष्ण ने स्पष्ट रूप में प्रतिपादित कर उसे जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया और यदि आज का मनुष्य गीतोक्त योग का अनुसरण कर ले तो उसका जीवन दिव्य हो जाय।

गीता के अनुसार मानव अस्तित्व अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द से रचित है। परन्तु ये पांचों तत्व एक क्रमिक सातत्वता में हैं। अन्न से प्राण और प्राण से मन और मन से विज्ञान और विज्ञान से आनन्द सूक्ष्म होते हैं। साथ ही प्रत्येक उच्चतर तत्व अपने से निम्नतर तत्व में है लेकिन निम्न स्तर उच्च-स्तर में नहीं है जैसे आनन्द विज्ञान में है परन्तु विज्ञान आनन्द में नहीं है। हम यों भी कह सकते हैं कि आनन्द विज्ञान का सार है या विज्ञान आनन्द का वाहन है। इसी प्रकार क्रमिक रूप में सभी को समझना चाहिये। गीता के अनुसार भोजन शास्त्र की व्यवस्था (सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी भोजन)

योग साधना की प्रथम शर्त है। कहा जाता है कि जैसा अन्न वैसा मन। संकेत अत्यन्त स्पष्ट है कि शारीरिक पवित्रता के अभाव में आनन्द की या समाधि की उपलब्धि असम्भव है। यह पतञ्जलि की ही बात कृष्ण ने कह दी। परन्तु उन्होंने आज के मानव के लिए एक अत्यन्त सरल कुञ्जी बता दी जो योग में अत्यन्त सहायक है। कृष्ण के अनुसार योग उसे सिद्ध होता है जो युक्त (यथा योग्य) आहार-विहार करे, कर्मों में युक्त चेष्टा करे और युक्त शयन करे। युक्त का अर्थ है संतुलित। मानव जीवन को पालने वाले चार ही व्यापार हैं—आहार, विहार, कर्म और निद्रा। आहार से उत्पन्न ऊर्जा विहार (आमोद-प्रमोद) चाहती है और कर्म से श्रमित ऊर्जा शान्ति (निद्रा) चाहती है। इस प्रकार आहार और कर्म सन्तुलित हो जाते हैं। फिर भी गीता कहती है कि ये चारों स्वयं में सन्तुलित हों तो योग सधेगा। ध्यान देने की बात है कि जीवन स्वयं सन्तुलन का नाम है। जीवन न तो आत्म मात्र है न अनात्म मात्र है। यह दोनों का सन्तुलित समन्वय है। अतः सन्तुलन की रक्षा करना ही योग का आधार है।

युक्ताहारविहारस्य-
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा॥

ऐसा स्पष्ट है कि गीतोक्त योग ही प्रजातान्त्रिक योग है। यही सर्व साधारण के लिये ग्राह्य है। इतना ही नहीं आज की असन्तुलित दिनचर्या और अशान्ति के उपकरणों की अदम्य लालसा को जैसे कृष्ण जानते थे। अस्तु जीवन विरोधी अवधारणा को निरस्त करने के लिए उन्होंने सन्तुलन-योग का मार्ग बताया। आज का मनुष्य प्रातःकाल ही से विचार और शरीर को उत्तेजित करने का प्रथम कार्य करता है। विचार को उत्तेजित करने के लिए अखबार का सनसनीखेज समाचार और शरीर को असन्तुलित करने के लिए चाय के अभाव में आज का मनुष्य समझ लेता है कि अपशकुन हो गया। अशान्ति, उत्तेजना, असन्तुलन और खलबली की यह ललक मनुष्य को योग के विरोध में चलाती है। अतः आज का सन्तुलन-योग की साधना ही समाधि की आधार-शिला या प्रथम पाठ है। वस्तुतः हम सर्व सामान्य के लिये यह भी कठिन हो सकता है परन्तु यह वर्तमान युग के लिये अपरिहार्य है। अतः योग मार्ग के अभ्यर्थी को सतुलन-योग की साधना स्वय करनी चाहिये और इसी का प्रचार करना चाहिये। आज के मनुष्य का कल्याण इसी में है और उसका युगीन योग मार्ग यही है। विशिष्ट व्यक्तियों के लिये पतञ्जलि आज भी प्रेरणा देते रहेंगे।

सती धर्म व उसका महत्व

डा० श्रीमती राज त्रिखा

भारतीय संस्कृति में पतिव्रत धर्म का अत्यन्त गुणगान किया गया है। सीता व सावित्री की महिमा भारत का बच्चा-बच्चा जानता है। राजस्थान का इतिहास राजपूत स्त्रियों की जौहर प्रथा का साक्षात् प्रमाण है। भारत को अनेकानेक सती नारियों की जन्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है। इस देश की स्त्रियां संस्कारतः ही पति-परायण होती हैं। बाल्यावस्था से ही धार्मिक उपदेशों के माध्यम से यह भावना कन्याओं के मनमें बस जाती हैं।

पतिव्रता, सती, साध्वी शब्दों से ऐसी नारी की कल्पना साकार हो उठती है जो पति के अनुकूल आचरण करने वाली, प्रिय-भाषिणी, सेवा-परायण व पति को पूर्णतया समर्पित हो। पति से सच्चे अर्थों में हृदय की गहराई से प्रेम करने वाली स्त्री ही यह सब कर सकती है। हिन्दू शास्त्रों में सर्व-सम्मत प्रमाण-ग्रन्थ मनुस्मृति में कहा गया है—

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां
भ्राताऽनुमते पितुः।
तां शुश्रूषेत जीवन्तं
संस्थितं च न लंघयेत्॥
(मनु० ५/१५१)

अर्थात् पिता या भाई जिस पुरुष को भी सौंप दे (विवाह कर दे) स्त्री को आयु-पर्यन्त उसी की सेवा करनी चाहिये, तथा उसके मरने के बाद भी पति का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए। परपुरुष के साथ व्यभिचार अत्यन्त हेय है। तुलसीकृत रामचरितमानस में अनुसूया जी सीताजी को समझाते हुए कहती हैं—उत्तम कोटि की स्त्री परपुरुष को देखती ही नहीं। मध्यम कोटि की स्त्री पिता भ्राता अथवा पुत्र की दृष्टि से देखती है। निकृष्ट स्त्री धर्म का विचार करके परपुरुषगमन नहीं करती तथा अधर्म स्त्री केवल अवसर न मिलने के कारण भयवश ही परपुरुषों के साथ व्यभिचार नहीं करती। तुलसीदास कहते हैं—

उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्मबिचारि समुझि कुल रहई।
सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई।
जानेहु अधम नारि जग सोई॥

जो स्त्रियां पति का उल्लंघन कर परपुरुष रति करती है वे पापिनी हैं। वे इस लोक में निन्दा की पात्र बनती हैं व भयंकर रोगों से आक्रान्त होती हैं। मृत्यु के उपरान्त वे शृगाल योनि में जाती हैं। कहा गया है—

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री
लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति
पापरोगैश्च पीड्यते ॥
(मनुस्मृति ५/१६४)

तुलसीदास भी कहते हैं—

पतिबंचक परपति रति करई ।
रौरव नरक कल्प सत परई ॥

इस प्रकार पति के प्रति पूर्ण निष्ठा हार्दिक प्रेम व अनुकूल आचरण ही सतीधर्म कहा गया है। रामचरितमानस में कहा है—

एकई धर्म एक व्रत नेमा ।
काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥

यदि वास्तव में इतना पति-प्रेम होगा तो स्त्री पति के प्रतिकूल आचरण करेगी ही नहीं। मनुस्मृति कहती है जीवित अथवा मृत पति के प्रति अप्रिय व्यवहार न करने वाली स्त्री पति-लोक में जाती है—

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री
जीवतो वा मृतस्य वा ।
पतिलोकमभीप्सन्ती
नाचरेत् किञ्चिदप्रियम् ।
(५/१५६)

पति चाहे कैसा भी क्यों न हो, उसी की पूर्ण-निष्ठा से सेवा पतिव्रता स्त्री का लक्ष्य होता है। शारीरिक रूप से दुर्बल, रोगी, निर्धन, दुराचारी, दुर्गुणी व दुर्व्यसनी पति भी सती स्त्री का देवता के समान आराध्य होता है। भगवान मनु का आदेश है—

विशीलः कामवृत्तो वा
गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या
सततं देववत्पतिः ॥
(मनु० ५/१५४)

जो स्त्रियाँ ऐसे पति को हेय समझती हैं तथा उनका अपमान करती हैं वे यमलोक में नाना दुःख सहती हैं। कहा गया है—

वृद्ध रोगबस जड़ धन हीना ।
अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसहु पतिकर किये अपमाना ।
नारि पाव जमपुर दुःख नाना ॥
(रामचरितमानस)

पति की आज्ञा के बिना देव पूजा व्रत, यज्ञ आदि भी नहीं करना चाहिए। सतियों की पति-सेवा ही उनकी स्वर्ग प्राप्ति का एक-मात्र साधन है। मनु महाराज ने कहा है—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो
न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पति शुश्रूषते येन
तेन स्वर्गे महीयते ॥
(मनु० ५/१५५)

पति सेवा रूप धर्म को निबाहने वाली स्त्री बिना (जप, तप आदि के) परिश्रम ही मोक्ष-पद पाती है। तुलसी के शब्दों में—

बिनु श्रम नारि परम गति लहई।
पतिव्रत धर्म...................... ॥

इस प्रकार सती-धर्म का अर्थ हुआ —पति के अनुकूल व प्रिय आचरण करना, तथा निष्ठापूर्वक व हार्दिक प्रेम एवं पति की आज्ञा का पालन।

व्याकरण-शास्त्र के अनुसार सती शब्द की व्युत्पत्ति अस् धातु से शतृ प्रत्यय लगाकर सिद्ध होती है। अस् का अर्थ है "विद्यमान होना।" इस प्रकार सती का अर्थ हुआ शाश्वत रूप से विद्यमान। प्रकारान्तर से अर्थ हुआ 'वह स्त्री जिसका पति-प्रेम शाश्वत है।' शरीर नष्ट हो जाने पर भी जिसका संस्कार-बद्ध पति-प्रेम नष्ट नहीं होता। ऐसी स्त्री अपने प्रगाढ़ पति-प्रेम के कारण प्रत्येक जन्म में उसी पति को प्राप्त करती है। कहा गया है—

सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला।
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥
(माघकृत शिशुपाल वध १/७२)

अर्थात् सती स्त्री व स्थिर स्वभाव, अनेकानेक जन्मों में भी मनुष्य के साथ चलता है। मृत पति की चिता पर जीवित जलने वाले सती धर्म की चर्चा मनुस्मृति में नहीं पाई जाती। भगवान मनु ने स्पष्ट आदेश दिया है कि स्त्री जीवित तो क्या मृत पति का भी अप्रिय न करे। ब्रह्मचर्यपूर्वक सात्त्विक जीवन बिताने वाली विधवा स्त्री को भी पतिव्रता व स्वर्ग की अधिकारिणी बतलाते हुए वे कहते हैं—

कामं तु क्षपयेद्देहं
पुष्पमूलफलैः शुभैः ।
न तु नामापि गृह्णीय-
त्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री
ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि
यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥
(मनु० ५/१५७, ५/१६०)

इस प्रकार पति की चिता पर जीवित जलने की चर्चा मनुस्मृति में नहीं है। रामायण, महाभारत ग्रन्थों में अनेक विधवाएँ पति की चिता पर नहीं जली थीं। उन्हें परिस्थिति वश पतिहीन जीवन का भार ढोना ही पड़ा था। परन्तु फिर भी आज तक हम उनका नाम श्रद्धा से लेते हैं (जैसे कुन्ती, कौशल्या आदि) अतः पति से स्थाई प्रेम ही सती-धर्म

की परिधि में आता है। ऐसी स्त्रियों का तन मन पूर्णतया पति को समर्पित होता है। प्रेमातिरेक में उनका पति ही उनके ध्यान का विषय बन जाता है। पति में ध्यान केन्द्रित होते-होते जब परिपक्व हो जाता है तो वे सहज ही समाधि प्राप्त कर लेती हैं। योग की शक्तियां उनमें प्रवृत्त होने लगती हैं। वे सम्पूर्ण ऋद्धि सिद्धियों की स्वामिनी बन जाती हैं तथा जो चाहे वही कर सकती हैं। महासती अनसूया ने जगत के रचयिता, पालक व संहारक ब्रह्मा विष्णु व महेश को ७ महीने के बालक बना दिये थे। इसी पतिव्रत धर्म की शक्ति से सती सावित्री ने यमराज के हाथों से अपने पति के प्राण वापिस पाये थे। रावण की पुत्र-वधू सुलोचना के सामने उसके पति का कटा हुआ सिर खिलखिला कर हँसा था। पतिव्रत-धर्म की प्रशंसा में स्कन्दपुराण में कहा गया है—

कम्पन्ते सर्वतेजांसि
दृष्ट्वा पातिव्रतं महः ।
यावत्स्वलोमसंख्यास्ति
तावत्कोट्ययुतानि च ॥
भर्त्रा स्वर्गसुखं भुङ्क्ते
रममाण पतिव्रता ।
(स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड)

अर्थात् पतिव्रता के तेज से सभी तेज कांपते हैं, शरीर के रोमकूपों की संख्या जितने खरब वर्ष तक पतिव्रता स्त्री स्वर्ग में पति के साथ सुख भोगती है।

इसी प्रकरण में आगे कहा गया है जैसे गंगा में स्नान करने से शरीर पवित्र होता है, उसी प्रकार पतिव्रताका दर्शन पवित्र करता है—

यथा गंगावगाहेन
शरीरं पावनं भवेत् ।
तथा पतिव्रतां दृष्ट्वा
सदनं पावनं भवेत् ॥
(स्कन्द-पुराण)

सती स्त्री सहस्रों पुरुषों का उद्धार कर देती है। पतिव्रता का पति सब पातकों से मुक्त हो जाता है तथा कर्मभोग के बन्धनों से भी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। वराहमिहिर-कृत बृहत्संहिता में कहा गया है—

पुरुषाणां सहस्रं च
सती स्त्री च समुद्धरेत् ।
पतिः पतिव्रतानाञ्च
मुच्यते सर्वपातकात् ॥

इस प्रकार सतियों की प्रभाव-सूचक अनेक आश्चर्यजनक घटनाओं की झांकी हमारी संस्कृति में विद्यमान है। पतिव्रता के निरन्तर

ध्यान में विद्यमान रहने से आध्यात्मिक अथवा नैतिक दृष्टि से नीचे स्तर के पति का भी उत्थान हो जाता है। पति-चिन्तन के कारण पतिव्रता की महाशक्ति, पतिकी छोटी शक्ति पर प्रभाव डालती है, तथा पति में वे सभी गुण आ जाते हैं जो पत्नी अपने पति में देखना चाहती है। परन्तु इसके लिए अत्यन्त धैर्य, साहस व त्याग की आवश्यकता है। पतिव्रत धर्म निबाहना तलवार की धार पर चलने के समान है, जिसमें निरन्तर सजगता व सूक्ष्म-बुद्धि अत्यावश्यक साधन है।

सती-धर्म के महत्त्व को आज नकारा जा रहा है। कपोल-कल्पनायें कह कर उपहास किया जाता है। सूक्ष्म उपलब्धियों को सूक्ष्म-दृष्टि ही देख सकती है। परन्तु केवल आध्यात्मिक ही नहीं व्यावहारिक दृष्टि से भी सती-धर्म का बहुत महत्त्व है। यह कटु सत्य है कि पतिव्रत-धर्म की लक्ष्मण रेखा-का उल्लंघन करने वाली स्त्रियों की दशा आज अति शोचनीय है। पति को महत्त्व न देकर उनसे बराबरी का दावा करने वाली स्त्रियां आयुपर्यन्त दुःखी रहती हैं। पति के प्रतिकूल आचरण करने से वे पारिवारिक कलह उत्पन्न करती है। कलह के कारण, स्वयं भी दुःखी होती हैं व पति तथा बच्चों को भी परेशान करती हैं। पति से असन्तुष्ट होकर आज कितनी ही स्त्रियां आत्म-हत्या कर लेती हैं। पति-धर्म का आश्रय लेने वाली स्त्रियां "जैसी तुम्हारी इच्छा" कह कर पति को तो महत्त्व देती ही है, साथ ही अधिकांश चिन्ता-जाल से मुक्ति पा लेती हैं। पति ही स्त्री की पारिवारिक सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा का आधार स्तम्भ है। तलाक शुदा परिवारों के बच्चे कितना असुरक्षित अनुभव करते है, ये सभी जानते हैं। सामाजिक सुरक्षा स्त्री को पति की बलिष्ठ भुजायें ही प्रदान करती हैं।

परपुरुष-रति से वर्तमान पीढ़ी व भावी पीढ़ी का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति का हेतु है रज व वीर्य की शुद्धि व सुरक्षा। अतः सामाजिक-कल्याण भी स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म पर निर्भर है।

इस प्रकार आज के परिवेश में लौकिक व पारलौकिक दृष्टि से पातिव्रत-धर्म का पालन स्त्रियों के लिये कल्याणप्रद है, समाज व देश के लिये सुख व शान्ति देने वाला है। श्री सद्गुरुदेव भगवान बुद्धि-भ्रम मिटा कर, मार्ग के व्यवधानों को दूर कर, हमें इस सन्मार्ग का पथिक बनावें, यही प्रार्थना है।

पूर्व प्रकाशित से आगे—

योग-चिकित्सा

❀ श्री गिरीशदेव वर्मा

कमर स्नान

योग द्वारा चिकित्सा करने वालों का मत है कि अधिकांश रोगों की जड़ पेड़ू के नीचे मलाशय के पास रहती हैं। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि इस गुफा के संशोधन के लिये वस्ती, नौली, गणेश क्रियायें आदि बड़ी उपयोगी हैं किन्तु किन्हीं किन्हीं रोगियों के आंतों में मल चिपट कर सूख जाता है और वस्ती से उसे कितना भी धोया जाय, वह मल छूटता नहीं है। ऐसे रोगियों को कुछ दिन कमर स्नान दिया जाता है।

इस स्नान को कमर स्नान, कटि स्नान, पेड़ू स्नान अथवा लुई कूने का फिक्शन हिप बाथ (Friction hip bath) भी कहते हैं।

कमर स्नान की विधि

चित्र में दिये हुये टब की तरह एक अच्छा टब लेना चाहिए। ऐसा टब बना-बनाया बड़े शहरों में मिल जाता है। धातु के टब के अभाव में प्लास्टिक का टब भी काम में लाया जा सकता है। देहातों में मिट्टी के नाद से भी काम चलाया जा सकता है। इस स्नान में जरूरी बात यह है कि नाभि से लेकर जांघ से कुछ आगे तक का बदन का सारा हिस्सा पानी के अन्दर रहे। पेट का कुछ हिस्सा भी अगर पानी में रहे तो कुछ हर्ज नहीं, लेकिन छाती, गर्दन व सिर को पानी के ऊपर रहना चाहिये। इसी तरह घुटनों के ऊपर का कुछ हिस्सा, घुटनों और टांगों को पानी के बाहर रहना चाहिए। पीठ की तरफ अगर पानी कुछ ऊँचा भी पहुँच जाय तो कोई हर्ज नहीं। चित्र में दिखाये गये की तरह बिल्कुल नंगा होकर टब में आराम से बैठना चाहिए। टब में पानी इतना हो कि नाभि से लेकर आधी जांघ तक का भाग पानी में डूब जावे। पैर टब के बाहर रहेंगे और उन्हें आराम से टिकाने के लिए एक तिपाई, चौकी या पटरा या ईंट को रख लेना चाहिये।

पहिले से ही एक मोटे चिकने कपड़े के टुकड़े या तौलिये की तह कर और लपेट करके एक गोला सा बना लेते हैं। उसी से पूरे पेड़ू को एक तरफ और ऊपर से नीचे लगातार रगड़ना चाहिये। रगड़ इतने जोर की न हो कि तकलीफ मालूम होने लगे और न इतनी हल्की हो कि कुछ भी जोर न मालूम हो। शुरू-शुरू में इस नहान को ५ से ७ मिनट तक ही लेते हैं, फिर हर दो तीन दिनों के बाद एक एक या दो दो मिनट बढ़ाते रहना चाहिए। पन्द्रह मिनट तक पहुँच कर कम से कम सात दिन आगे न बढ़ना चाहिये। इसके बाद फिर समय को धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए, ज्यादा से ज्यादा आधा घण्टे का समय काफी है। समय को धीरे धीरे ही बढ़ाना चाहिए जल्दबाजी ठीक नहीं। गरमी के दिनों में या अगर रोगी सबल है तो पहिले दिन से ही १० मिनट का नहान शुरू कर सकते हैं।

यदि बुखार की हालत हो तो सुबह शाम ७-७ मिनट का नहान काफी है। बुखार में कमर स्नान बहुत फायदा करता है इससे डरना नहीं चाहिये। तेज बुखार की हालत में तीन या चार कमर स्नान दिया जा सकता है।

पानी के अन्दर पेड़ू का मलना कोई खतरनाक बात नहीं है, लेकिन बदन में ठंड पहुँच जाने के बाद फिर से गर्मी का आ जाना जरूरी है। इसलिए नहान के बाद ही बदन को अच्छी तरह पोंछ कर कमजोर रोगियों को बिस्तर पर लिटा देते हैं और ऊपर से काफी गरम कपड़े डालते हैं। इस तरह गरम कपड़ा ओढ़ कर लेटे रहना आध घण्टे के लिए काफी होगा। जिनके बदन पर गरमी जल्दी नहीं आती, उनके पेड़ू पर फलालैन या किसी भी ऊनी कपड़े को लपेट कर ऊपर से रजाई या कम्बल डाल देना चाहिये। जो ज्यादा कमजोर नहीं है उन्हें गरम कपड़े पहिन कर या ओढ़कर जितनी तेजी से हो सके टहलना चाहिए। जो कसरत कर सकते हैं वे नंगे बदन या हल्के कपड़े पहिन कर अपनी ताकत भर कसरत करें। गर्मी के महीनों में गरम कपड़े पहिनने की जरूरत नहीं है। इस नहान के बाद बदन पर पसीना का आना बहुत अच्छा समझा जाता है। लेकिन कमजोर रोगियों को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे थकान हो। उनके लिये इतना ही काफी है कि बदन में गरमी आजाय। किसी भी हालत में पसीने के लिए चिन्ता न करनी चाहिए।

अब सवाल यह है कि पानी कितना ठंडा हो। जितनी भी ठंड आसानी से सही जा सके ठीक है, जाड़े में कमजोर रोगियों के लिए ठंडे पानी में बहुत थोड़ा गरम पानी मिलाकर ठंड को मार देते हैं। उसे गरम न करना

चाहिए। फिर धीरे धीरे ज्यादा ठंडा पानी इस्तेमाल करना चाहिये। गर्मियों मे मिट्टी के घड़ों में पहिले से पानी भर कर और घड़ा को रेत पर रख कर पानी को तैयार करना जरूरी होता है। जब किसी भी तरह ठंडा पानी न मिले तो थोड़ी सी बर्फ मिला कर पानी को ठंडा कर लेते हैं। ज्यादा बर्फ मिलाने से पानी जल्दी गर्म हो जाता है और गरम पानी से तो अपना काम निकल ही नहीं सकता। यहां तो कमर पास के नाड़ी-जाल को ठंडा और उत्तेजित करना है और बदन के अन्दर की दाह को जो कि ज्यादातर पेड़ू में ही रहती है, शान्त करना है। इसलिए पानी जितना ठंडा हो उतना ही अधिक फायदा होगा। अतः पानी के तापमान का ध्यान रखना चाहिये।

अगर पानी ठंडा नहीं है तो उससे लाभ न होगा। हां, कमजोर रोगियों को अभ्यास डालने के लिये शुरू शुरू में कम ठंडा पानी ही ठीक है। मोटे, चर्बीदार पेड़ू वाले आदमी के लिए काफी ठंडा पानी चाहिये।

जाड़ों में भी अगर कमरे के अन्दर एक या दो जलते कोयलों की अंगीठी टब के पास रख ली जावे तो ठंडे पानी से आराम मिलता है। अगर अंगीठी न मिले तो ऊपर से एक कम्बल इस तरह डाला जा सकता है कि वह पीठ की तरफ से आकर बीच में ऊपर को उठता हुआ पैर के नीचे दबा रहे। यह इस तरह किया जाता है। टब के पीछे एक कुर्सी रखिये। उस कुर्सी पर ईंट के सहारे कम्बल का एक सिरा दबा कर कम्बल को सिर के ऊपर से पैर की तरफ से दूसरे को या तो पैरों के नीचे दबा दीजिये या उधर भी एक कुर्सी रख कर ईंट के सहारे कम्बल को ठीक-ठीक रख दीजिये। इसी हालत में कमजोर रोगियों को कमर-नहान लेना चाहिये।

किसी किसी कमजोर रोगी के पैर ठण्डे रहते हैं। इनके लिए गरम मोजे पहन कर या पैर पर गरम कपड़े डाल कर कमर-नहान ठीक होगा। बहुत कमजोर रोगियों के लिए और मलेरिया बुखार में अच्छा होगा कि साथ ही पैरों का गरम नहान भी दिया जावे।

इस नहान को सभी इलाज के शुरू में कुछ दिनों तक लेना चाहिये। बुखार के शुरू में अगर यह नहान लिया जाय तो दो तीन नहान के या कभी कभी तो पहिले ही नहान के बाद बुखार भाग जाता है। जितने भी बुखार होते हैं शुरू शुरू में मामूली होते हैं। आगे चलकर वे या तो टाइफायड या निमोनिया वाले या चेचक के या गर्दन तोड़ बुखार या और किसी बीमारी का रूप धारण करते हैं। अगर शुरू ही में कमर स्नान दे दिया जावे तो कोई भी उपद्रव न हो। अलबत्ता मलेरिया में कुछ और उपचार की आवश्यकता होती है।

किसी भी पुराने रोग में, उचित आहार, मामूली रोटी या बे छटे चावल का भात और लौकी, परवल, नेनुआ या तरोई की सादी पकी तरकारी या सिर्फ फल या केवल भाजी तरकारी के साथ लें तथा एक महीने तक सुबह शाम कमर नहान लेना चाहिए।

कमर नहान से कमर के पास का नाड़ी जाल, जो शरीर को ठीक हालत में रखता है, जाग उठता है और पेड़ू के अन्दर के जरूरी कल पुर्जे ठीक होते हैं। पेड़ू के अन्दर छोटी आंत और बड़ी आंत है। छोटी आंत पचे भोजन के रस खींचती है और बड़ी आंत भोजन के बचे बेकाम चीजों को पाखाने के रूप में बाहर निकालती है। इन दोनों का काम ठीक होना चाहिये। खासकर अगर बड़ी आंत के रास्ते शरीर के अन्दर का विकार बाहर न निकल जाय तो अनेक गड़बड़ी पैदा होती है। पेशाब निकालने वाले कल पुर्जों को भी पेड़ू से सरोकार है। अनियमित रहन-सहन और खान पान से पाखाना पेशाब ठीक ठीक नहीं होता, जिससे पेड़ू के अन्दर विकार और गरमी जमा रहती है। फिर वहीं से विकार दूसरे दूसरे रूपों में फैलकर शरीर के दूसरे हिस्सों में जा बसते है, जिससे तरह तरह की बीमारियां होती हैं। इसलिए कमर नहान से सिर्फ पेड़ू को ही गर्मी नहीं, सारे शरीर की गरमी दूर होती है। कमर नहान लेने का मतलब यह है कि गर्मी की जड़ को जड़ से ही मिटा दिया जावे। इस नहान से और हिस्सों के विकार खिंच कर पेड़ू में आ जाते हैं और पेशाब के रूप में बाहर निकल जाते हैं।

लेकिन कमर नहान से असल लाभ कुछ और होता है। कमर के पास नाड़ियों के गुच्छे रहते हैं। ये सब ठंडे व सजीव हो जाते हैं। इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है।

कमर स्नान या किसी भी नहान के साथ भोजन का परहेज जरूरी है। यह इसलिये जरूरी है कि विकारों के निकलते समय बाहर से नये विकार न आवे। भोजन में बदपरहेजी से अनेकों विकार पैदा करती है।

चिकित्सा के दिनों में वायु विकार बढ़ाने वाली चीजों को नहीं खाना चाहिए, जैसे दाल, घुइयां, बड़ी, लोबिया, सम आदि भैंस का दूध भी वायुकारक होता है। बहुत पुराने रोगों में बहुत दिनों तक कमर नहान की जरूरत पड़ती है। ऐसी हालत में एक डेढ़ महीना नहान लेने के बाद आठ-दस दिन के लिए छोड़ देते हैं, फिर एक दो महीने तक जारी रखते हैं। २५-३० साल के पुराने रोगों में कई महीने तक इलाज जारी रखना पड़ता है तब कहीं फायदा नजर आता है। जब इलाज को बहुत दिना तक जारी रखना होता है तब सुबह चोकरदार आटे की रोटी और सादी पकी भाजी खाने में देते हैं। साथ में मौसमी फल व दूध भी ले सकते हैं।

बहुत दिनों तक चलने वाले कमर नहान में किसी किसी को तीन चार दिनों के बाद ही बहुत मात्रा में पेशाब पाखाना होने लगता है। ऐसी हालत में हर रोज एनिमा से पेट साफ कर लेना चाहिये। एनिमा व नहान में मामूली तौर से एक घण्टे का अन्तर होना चाहिए। किसी किसी के मुंह का स्वाद फीका हो जाता है। ऐसे लोगों को भी हर रोज एनिमा लेना चाहिए।

तुम कौन हो ?

[१]

तुम विरह की वेदना हो या मिलन का रूप हो
तुम सिसकती चांदनी हो या विहंसती धूप हो
तुम पहेली हो कठिन अनबूझ सी मन की कहानी
तुम धरा की दीप्ति हो या स्वर्ग का प्रतिरूप हो ।

[२]

धैर्य हो आकुल हृदय का व्यथित मन की पीर हो
अनल हो उत्तप्त उर का या नयन का नीर हो
कौन हो तुम ? कौन जाने ? प्रश्न पर यह प्रश्न है
तुम कठिन मझधार हो या डूबते को तीर हो ॥

[३]

मुस्कराती जीत हो तुम या सिसकती हार हो
प्रात की गरिमा गहन या रात का शृंगार हो
जिन्दगी की राह पर अनजान से तुम कौन हो
तुम प्रलय का गीत हो या नव सृजन का प्यार हो ।

[४]

भूख का तुम करुण क्रन्दन तृप्ति का स्मित हास हो
तुम दुखद पतझर हो वन के या सुखद मधुमास हो
व्योम का अविराम स्वर हो या क्षितिज का मौन हो
सृष्टि का भूगोल हो या विश्व का इतिहास हो ॥

[५]

तुम चुभन हो शूल की या फूल की मुस्कान हो
तुम धरा का नर्क हो या स्वर्ग का सोपान हो
गांव है अनजान ! क्या पहिचान है ! तुम कौन हो
नियति का अभिशाप हो या अगम का वरदान हो ।

[६]

कौन हो तुम ? साधना हो, साध्य हो या साम हो
तुम तुम्हीं हो, तुम स्वयं में तुम स्वर्ग में अविराम हो
तुम स्वयं की प्रेरणा हो और स्पन्दन हो स्वयं
तुम अगम हो या निगम हो किन्तु पूर्ण विराम हो ॥

वैद्य श्री गुरुदत्त शर्मा
'आर्यमित्र' से साभार

ईशावास्यमिदं

ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथजी

भगवान श्रीरामचन्द्रजी से श्री हनुमन्तलाल जी की प्रथम भेंट में श्रीरामचन्द्र जी वार्ता प्रसंग में उनसे कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ ।
सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि सब लोग मुझे समदरसी कहते हैं। इसके बावजूद सेवक बन कर जो मेरे समीप आता है वह मुझे विशेष रूप से प्रिय लगता है। सेवक की गति अनन्य होती है। अनन्य वही है जिसकी यह बुद्धि कदापि नहीं टलती कि मैं सेवक हूं और समस्त जड़-चेतन जगत् मेरे स्वामी भगवान का रूप है।

श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी को प्रथम दर्शन में ही मानों उक्त गुरु-मन्त्र दे दिया और श्री हनुमान जी अपने प्रभु की अनन्य सेवा में संलग्न हो गये।

समस्त जगत् में विराजमान राम के सेवक श्री हनुमानजी तब से लगाकर सनातन काल के लिए विश्वरूपी राम की सेवा में संलग्न रहते हुए हर किसी का भला करने में तत्पर हैं। उनकी सेवा का ढ़ंग भी अनूठा है। उसमें कहीं एक क्षण के लिए भी सेवा च्युति नहीं है। श्री सीताराम जी के समस्त सुख-सुविधा की व्यवस्था उनकी दृष्टि में है। श्री सीताराम जी को दृग्गोचर कराने के लिए वे स्वयं सद्गुरु के रूप में लीला-प्रसार करते हैं। भक्तों, योगियों एवं साधकों को उनकी योग्यता के अनुरूप भगवत्प्रेम का रस प्रदान करते हुए वे उन सबके योग-क्षेम का भी वहन करते हैं।

"श्री गुरु चरन सरोज रज,
निज मन मुकुर सुधार।"

उन सद्गुरु रूपी श्री हनुमन्तलाल जी के चरण-कमलों की रज अपने मानस-बिम्ब को स्वच्छ और सुथरा बना देती है। अर्थात्—

"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।"

चित्त की सहजावस्था सहज ही उपलब्ध होकर योगका चरम लक्ष्य-प्राप्त हो जाता है।

श्री सद्गुरुदेव के चरण-रज को ध्यान-पूर्वक मानस पटल पर अंकित करना समस्त योग के फल की त्वरित एवं सम्यक उपलब्धि का अमोघ साधन है।

श्री हनुमान जी की सेवा का ढ़ंग भक्तों एवं आसुरी प्रवृत्ति वाले असुरों—दोनों के लिए भिन्न-भिन्न है।

"हाथ बज्र औ ध्वजा बिराजे ।"

एक हाथ में वे बज्र लिये हैं। इस बज्र द्वारा वे असुरों की सेवा करते हैं। आसुरी प्रवृत्ति वाले लोग मोहान्धता के परिणामस्वरूप एक के बाद एक ठोकरें खाते हैं और रोते चिल्लाते हैं। बार-बार ठोकरें खाते-खाते उनमें धीमी गति से ज्ञान का उदय होता है। संसार में आसुरी प्रवृत्ति के लोगों को ठोकर-सेवा भी भगवदिच्छा से ही प्राप्त होती है। जिसका उद्देश्य वस्तुतः मनुष्य की चित्त-शुद्धिपूर्वक उसे भगवत्शरणागति के लिए प्रवृत्त करना ही है। इसीसे गुरु को सदैव शिक्षणाधिकार दिया है जिसके द्वारा वह शिष्य को समय पर पीटता भी है और घुड़कता भी है। हनुमानजी की बन्दर घुड़की तो मशहूर ही है। यह घुड़की केवल डराने के लिए ही होती है। बहुत से लोग तो सिर्फ घुडकी से सीधे हो जाते हैं, उनके लिये बज्र प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। कुछ लोग थोड़े कष्ट से ही सुधर कर सन्मार्ग पर आ सकते हैं। अति दुष्टों के लिए तो अन्ततः बज्र प्रहार करना ही होता है। किसके प्रति कैसा व्यवहार करना यह सद्गुरु को भली-भांति विदित है। वे श्री सीताराममय जगत् में सेवा तो सब की करते हैं परन्तु व्यावहारिकता का निर्वाह भी पूर्ण रूप से करते हैं। इसी कारण जहां दुष्टों के लिए वे बज्र प्रयोग करते हैं वहीं साधु-स्वभाव के साधकों, भक्तों व योगीजनों के लिए अपने दाहिने हाथ में ध्वजा लिये हुए हैं। यह ध्वजा जब फहराती हुई अपनी ज्ञान-किरणों का प्रसारण करती है तो बज्र द्वारा प्रसारित ज्ञान-किरणों का तीक्ष्णता के बदले माधुर्य, सद्भाव और विश्वास का प्रसारण कर चित्त को स्थिरता व सहजता प्रदान करती है। परिणामस्वरूप साधुजनों को सहजानन्द प्रदान कर श्रीराम की अनुभूति में तत्पर करती है। इस प्रकार सद्गुरुरूपी श्री हनुमान जी साधु-असाधु सभी की सेवा में निरन्तर संलग्न हैं।

"कुमति निवार सुमति के संगी ।"

उक्त व्यवहार की आधारभूता नियमावली यही है—कुबुद्धि का निवारण करना और सद्बुद्धि का साथ देना। यही कारण है कि किसी दुष्ट कामना से यदि कोई हनुमान जी की आराधना करे तो कभी सफलता नहीं पाता, परन्तु किसी अच्छी भावना के लिए उन्हें स्मरण करने मात्र से वे तत्काल सिद्धि प्रदान करते हैं।

"अष्टसिद्धि नव निद्धि के दाता ।
अस बर दीन्ह जानकी माता ॥"

वे आठों प्रकार की सिद्धियां और नवों प्रकार की निधियां अपने शुद्ध चित्त भक्तों को प्रदान करते हैं—श्री जानकी माता के अनुग्रह

से उनमें यह ऋद्धि सिद्धि प्रदान की स्वाभाविक शक्ति है। श्री सद्गुरु का अनुग्रह होने मात्र से साधक ऋद्धि-सिद्धि से विभूषित हो जाता है। जानकी माता अर्थात् समस्त विश्व की जननी शक्ति ने सद्गुरु स्वरूप को ऐसा करने का वर दिया हुआ है। यही कारण है कि गुरु-पदाश्रित को सहज ही सिद्धिलाभ हो जाता है और जब तक गुरु-कृपा न हो मनुष्य सिद्धि व निधि का दर्शन नहीं पाता।

"तुम्हरो मन्त्र विभीषन माना।
लंकेश्वर भए सब जग जाना।"

सद्गुरु स्वरूप श्री हनुमन्तलाल जी भक्त जनों को मन्त्र भी प्रदान करते है। जैसा अधिकारी हो उसे वैसा मन्त्र देना उनका एक काम है। विभीषण ने उनका मन्त्र ग्रहण कर लंकेश्वर का पद पाया और सुग्रीव ने किष्किन्धा का पतित्व प्राप्त किया। लंकिनी नामक निशाचरी को उन्होंने अपने वज्र के साथ ही मन्त्र प्रदान किया और उसे तत्क्षण यह बोध प्राप्त हो गया —

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

सदैव निशाचरों के अत्याचार का वहन करने वाली लंकिनी ने रामदूत के एक क्षण के सत्संग का अनुभव कर यह महसूस कर लिया कि वह सुख स्वर्ग एवं मोक्ष के समस्त सुखों से भी अधिक था। लंका में रावण ने स्वर्ग से भी अधिक सुखों को जुटा रखा था और लंकिनी उन सबसे परिचित थी। मोक्ष-सुख का अनुभव उसे श्री हनुमान जी के स्पर्श मात्र से ज्ञानतः विदित हो गया। उसके बाद ही वह सत्संगति के अप्रतिम प्रभाव को पहचान और बखान सकी।

श्री हनुमान जी का ध्यान करने से वे संकटों से छुड़ाते हैं।

"संकट ते हनुमान छुड़ावैं।
मनक्रम वचन ध्यान जो लावैं॥"

सद्गुरुस्वरूपी हनुमद्देव का ध्यान करना ही संकट से निवृत्ति का हेतु है। यह ध्यान तीन प्रकार से होता है। मन में ध्यान करने से मन में सद्गुरु का आवेश होता है। मन में सद्गुरु के चरण, स्वरूप, कृपा, कर्तृत्व और शक्ति के स्मरण से तत्क्षण संकट कटता है। दूसरा ध्यान कर्मजनित है। जो कर्म हमारे गुरुदेव हनुमान जी कर रहे हैं हमारे कर्मों से वे ही व्यक्त हो रहे हैं, यह शुद्ध भावना बनने मात्र से संकट तिरोहित हो जाते हैं।

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः
सहचराः शरीरं गृहं।
पूजा ते विविधोपभोगरचना
निद्रा समाधिस्थितिः॥

संचार: पदयो: प्रदक्षिण-
विधि: स्तोत्राणि सर्वागिरो।
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं
शम्भो तवाराधनम् ॥

इस प्रकार का कर्मयोग का ध्यानी योगी यह भावना रखता है कि आत्मा के रूप में शंकर मुझ में अवस्थित हैं। बुद्धिरूपी गिरिजा पांच महाभूत मेरे पांचों प्राण, गृह अर्थात् शिवालय स्वरूपी मेरे इस शरीर में रहते हुए विविध भोगोपभोग रूपी कर्मों द्वारा शिव उपासना में निरन्तर प्रवृत्त हैं। निद्रा-काल में भी मैं समाधिस्थ रहता हूं। मेरे चरण जहां-जहाँ जाते हैं मैं जगद्गुरु शंकर की ही परिक्रमा करता हूं। मेरे मुख से निकलने वाली वाणी शिव की शक्ति से विभूषित होने के कारण सबके सब शिव-स्तोत्र ही हैं। जो कुछ भी कर्म मैं कर रहा हूँ, हे महादेव शम्भो वे सभी तुम्हारी ही आराधना-स्वरूप हैं।

कर्म ध्यान के अन्य भी बहुत से प्रकार हो सकते हैं। एक कर्मयोगी विवेकानन्द के समान कहेगा—"मनुष्य मात्र की सेवा ही ईश्वर की सेवा है।" इस प्रकार वह हर क्षण अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को मानव की सेवा के अधिकाधिक प्रयोग में प्रवृत्त करेगा। दूसरा कोई कर्मयोगी कहेगा—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय।

सब बातों को समझकर हे अर्जुन तू उठ खड़ा हो और युद्ध करने का संकल्प बना।

कर्म द्वारा ध्यान में श्री गुरु के आदेश का पालन ही मुख्य वस्तु है।

ध्यान का तीसरा ढंग है—"वचन" द्वारा ध्यान करना। गुरुदेव कोई मन्त्र प्रदान कर चुके हैं उसे जिह्वा पर आवृत्त करना ही वचन-ध्यान है। वचन-ध्यान में वचन-शुद्धि भी आवश्यक है। अर्थात् कोई ऐसा शब्द मुख से निकल न सके जो अनुचित हो। वचन ध्यान से भी गुरुदेव का ही अनुग्रह प्राप्त होगा एवं संकट की निवृत्ति होगी।

कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई।
जब तुव सुमिरन भजन न होई॥

संकट अथवा विपत्ति की परिभाषा श्री हनुमान जी के शब्दों में यही है कि श्री भगवान की स्मृति अथवा भजन का न होना ही विपत्ति है। श्री गुरुदेव के अनुग्रह से श्रीराम ही सतत दृष्टिगोचर होते हैं और चित्त का परम समाधान होकर सहज समाधि प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि श्री हनुमान जी को 'संकटमोचन' के नामसे भी जाना जाता है।

लाय सजीवन लखन जियाये।

श्रीगुरु महाराज का हर काम अद्भुत है। उनका एक काम यह भी है कि वे सञ्जीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण को जीवित करते हैं। यह

सञ्जीवनी बूटी अर्थात् अमृतत्त्व श्री सद्गुरुदेव के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। रावण-पक्ष से आहत होकर समर भूमि में समस्त लक्षणवती आत्मा जब मृतवत् पड़ जाती है तब प्रभु के अनुग्रहरूपी श्री सद्गुरुदेव का प्रयासही आत्मा को दिव्य लक्षणयुक्त अनन्त चैतन्य प्रदान करता है। उसके बाद वह लक्ष्मण फिर कभी मृतत्व प्राप्त नहीं करता, भले ही स्वेच्छा से साकेतलोक के लिए गमन कर ले। प्रत्येक प्रचण्ड साधक के जीवन में यह स्थिति एक बार आती ही है और उसे दूसरे जन्म के समान दिव्य जीवन श्री सद्गुरु मारुति भगवान के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है। लक्ष्मण के नाम व गुणों का वर्णन श्री वसिष्ठ जी ने किस प्रकार किया है ?—

लच्छन धाम रामप्रिय सकल जगत आधार।
गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

सकल जगत् के आधार भगवान के नित्य-प्रति समस्त लक्षणवान आत्मदेव ही श्री सद्गुरु के अनुग्रह तत्त्व से स्पर्शित होकर स्वयं परमात्मावत् हो जाते हैं।

जुग सहस्र जोजन पर भानू।
लील्यो ताहि मधुर फल जानू॥

श्री सद्गुरु के जन्म का प्रसंग ही उनकी अद्भुत क्षमता का विवरण सूचित करता है। उनका जन्म होता है अर्थात् वे प्रकाश में आते हैं तो पहला कार्य करते हैं भानु को लीलने का। जब तक सूर्यस्वर रूपिणी पिंगला नाड़ी को सम्यक् वश में न किया जाये तब तक गुरुदेव की शान्ति-प्रसारिणी प्रज्ञा पर लोग विश्वस्त नहीं होते। अतः राम-सेवक का जन्म और आदित्य-भक्षण साथ-साथ ही प्रकाश में आते हैं। सूर्य स्वर भक्षण में समर्थ गुरुदेव को भ्रम नहीं होता बल्कि वे उसे मधुर फल समझकर भोगते हैं। इससे उनकी सामर्थ्य को लोग जान पाते हैं और उनकी शक्ति के सहारे निश्चिन्त होकर कुछ भी करते हैं।

प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं।
जलधि लाँघि गए अचरज नाहीं॥

सूर्य-नाड़ी विजयी गुरुदेव अपने मुख में प्रभु की मुद्रिका धारण कर जलधि अर्थात् चन्द्रनाड़ी को इतनी सरलता से पार कर जाते हैं तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? प्रभु मुद्रिका क्या है ? योग साधक के लिए खेचरी मुद्रा अथवा भक्ति साधक के लिए भगवन्नाम ही प्रभु मुद्रिका है। खेचरी मुद्रा साधकर योगी अमृतत्व को पाते हैं। प्रभु-नाम को साधकर भक्ति-योगी और गुरु-पदाश्रित साधु-साधक इड़ा के प्रभाव को पार कर उनके दिये हुए कार्य को सम्पूर्ण करते हैं। अर्थात् राक्षसी प्रवृत्तियों को विनष्ट कर साधु प्रवृत्तियों का पोषण करते हुए अपने सद्गुरु स्वरूप से एकत्व प्राप्त करते हैं।

साधु संत के तुम रखवारे ।
असुर निकन्दन राम दुलारे ।।

श्री सद्गुरु मारुति भगवान को इसी कारण साधु सन्तों के सतत रक्षक के रूप में स्मरण किया जाता है। आसुरी भाव को वे मूलतः विनष्ट करते हैं। रामचन्द्र जी का प्यार पाने वाले सद्गुरु स्वरूप का यही मुख्य कार्य है।

"तुम्हरे भजन राम को पावैं ।"

यह एक अद्भुत सत्य है कि श्रीरामचन्द्र जी को पाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी की आराधना की अपेक्षा श्री सद्गुरुदेव हनुमान जी की आराधना त्वरित् सिद्धि प्रदा होती है। योगशास्त्र में समाधि को योग का आठवां अंग बताया है और यम नियमादि प्रारम्भिक अंगों के भी एक-एक के कई-कई पृथक् पृथक् अंगों की साधना के बाद क्रमशः प्रगति करते हुए ही योगाभ्यासी समाधि तक पहुँच सकता है। परन्तु इससे सरल एक दूसरा भी साधन योगशास्त्र ने वर्णित किया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।

जो लोग वीतराग हो चुके हैं उनके चित्त में संयम करने से साधक तद्वत् हो जाता है।

अतएव श्री हनुमान जी श्रीरामचन्द्रजी के ध्यान में मग्न हैं यह सोचकर उनके उस ध्यान में आत्मार्पण कर देना अर्थात् अपने चित्त को उनके चित्त में समर्पित कर तत्क्षण उनकी सिद्धि से ऐकात्म्य प्राप्ति का साधन है। श्री सद्गुरु के चरणाश्रित को ही उनके समर्पित चित्त में स्वसमर्पण की प्रेरणा और योग्यता प्राप्त होकर त्वरित सिद्धि उपलब्ध होती है।

सबके सेवक—अनन्य सेवक होते हुए भी श्री हनुमान जी व्यवहार विधान में तत्पर हैं। किसी पर अनुग्रह से कृपा करते हैं तो किसी पर प्रहार से। किसी को संजीवनी बूटी देकर अनुगृहीत करते हैं तो किसी को मन्त्रणा देकर। किसी के चरण दबाते हैं तो किसी को अपनी चरण सेवा की स्वीकृति देते हैं। किसी को मुष्टिका प्रहार प्रदान करते हैं तो किसी को ऋद्धि-सिद्धि देकर उसका कल्याण करते हैं। एक प्रबुद्ध योगी के लिए सबको सम्यक् व्यवहार देना आवश्यक है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम् ।

योगशास्त्र कहता है कि जो लोग मैत्री प्रदान करने योग्य हैं—जो आत्म-सुखवान् हैं-उन्हें योगी मैत्री भाव दे।

जो लोग दयनीय हैं—दुखी हैं या दुःख के मार्ग की ओर बढ़ रहे हैं, उन पर योगी करुणापूर्ण दृष्टि से देखे।

जो लोग पुण्यवान होने से ऐश्वर्य-विभूषित हैं उन्हें योगी मोदयुक्त व्यवहार दे।

जो लोग पापों का मार्ग पकड़ कर बढ़ रहे हैं, जिन्हें प्रहार द्वारा सन्मार्ग पर लाने का भगवद्विधान है उन्हें उपेक्षापूर्ण व्यवहार प्रदान करे।

इस प्रकार जिसे जैसा व्यवहार देना उचित है उसे वैसा ही व्यवहार देते रहने से उसे मनःप्रसाद प्राप्त होता है।

अतएव सबको उनके व्यवहार के अनुरूप फल प्रदान करने वाले गुरुदेव श्री हनुमानजी सबके लिए कल्याण के सतत आकांक्षी हैं।

ईशावास्य मन्त्र का यही तात्पर्य है कि मनुष्य ईश्वर को सर्वत्र सदैव महसूस करता हुआ जगत को भोगे। ईश्वर जड़-चेतन, स्थावर-जंगम में सर्वत्र परिव्याप्त है। उसका भोग करने के लिए वह अपने आप को त्यागे। अर्थात् सेवक भाव ग्रहण करे। लालच न करे। जिसे धन समझा जा रहा है वह भी स्वयं परमेश्वर ही है। वह किसी के वशीभूत होकर उसकी निजी सम्पत्ति भला कैसे हो सकता है? निजी सम्पत्ति न होना ही उस सर्वव्याप्त सम्पत्ति से एकत्व की एक शर्त है। आध्यात्मिक समाजवाद या विश्व साम्यवाद के शिक्षक श्री सद्गुरुदेव प्रभु सेवक मारुति भगवान सबका मंगल करें।

ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा
मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

—卐 भगवान का चिन्तन 卐—

जीवन के अन्त में मिलने वाली गति का रहस्य बतलाते हुए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'मनुष्य जीवन-भर जिस-जिस का चिन्तन करता रहता है उसे मृत्यु के समय पर भी उसी का स्मरण रहता है, और अन्तकाल में मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह उसी भाव को प्राप्त होता है। जो मनुष्य अन्तकाल में मुझको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है वह निःसन्देह मेरे ही स्वरूप में मिल जाता है। इसलिए अर्जुन! तू अपने मन और बुद्धि को मेरे अर्पित करके अर्थात् मन और बुद्धि से मेरा स्मरण करता हुआ इन्द्रियों से अपना विहित कर्म अर्थात युद्ध कर। ऐसा करने से तू अन्त में निश्चित रूप से मुझे ही प्राप्त होगा।

—गीता

आसन-स्थिति

❀ श्री पन्त महाराज, बालेकुन्द्रीकर

आसन नामक योग स्थिर होकर मन, नेत्र, प्राण-तीनों एक होकर नासाग्र में सुस्थिर रहें तब मुक्ति साध्य होती है। पहले बताये गये यम-नियमों से ही भव-बन्ध का परिहार होता है। फिर भी इसके अतिरिक्त आसन-स्थिति बताता हूँ। उनके साधने से देह का जाड्य समाप्त हो जाता है।

(१) बायीं एड़ी आधार पीठ से सटाकर, फौरन ही दायीं एड़ी भग-स्थान के मृदु-स्थल पर रखकर, सब सब शरीर दृढ़ता से रखकर बैठने को सिद्धासन कहते हैं।

(२) जानु संधि में उभय-चरण रखकर समदेह से बैठना स्वस्तिकासन कहलाता है।

(३) दायीं जांघ पर बांया पैर और बायीं जांघ पर दाँया पैर रखकर, स्थिरपन से देह, पीठ, ग्रीवा न झुकाकर दृढ़ता से बैठना पद्मासन कहलाता है।

(४) बायां पैर भूमि पर टेक कर, सीधा (दांया) पैर बायें जांघ पर रखकर, दृढ़ शरीर से बैठने को वीरासन कहते हैं।

(५) हमें जो सुख कारक, उत्साह, धैर्य-दायक लगता है वही साधकर, मन, पवन, दृष्टि - स्थिरता, साधना ऐसे आसन को सुखासन कहते हैं। इसका अर्थ आयास (तकलीफ) न होते हुये जो देह स्थिति रखें, वह सुखासन है।

नाड़ी–शुद्धि–सूचना

शरीर के तत्वों की जानकारी मालूम करना हो तो पहले प्राणायाम से शरीर का विचार जान लेना चाहिये, अर्थात "शरीर यह मिथ्या" यह सिद्ध हो जाता है। इसलिये तनुमूल जानना हो तो, प्राणायाम से तनुशुद्धि करके नाड़ी-शुद्धि साध लेवें।

यह शरीर हमारी अंगुली से ९६ अंगुली ऊँचा है। अपान द्वारा और पेट इनके बीच का भाग नाभि के नीचे का भाग ही शरीर का मध्य भाग है। उस स्थान में जठर अग्नि होकर, शरीर में जीर्णादि क्रिया करता है। ऊपर बताये हुए मध्य भाग के नौ अंगुल पर नाभि है। वह गड्ढा गहरा लेकर ४ अंगुल चौड़ा है। शरीर में चलन पाने वाली सब नाड़ियां नाभिकेन्द्र से उत्पन्न होती हैं, और प्राण समूह के साथ मन चाञ्चल्य होने के सर्व चलनांश भी वहीं उत्पन्न होते हैं। इनमें से ३ नाड़ियां मुख्य हैं। नाभिकन्द से नासिका

तक वाम भाग में इड़ा नाड़ी और सव्य भाग में पिङ्गला नाड़ी होकर, मध्य में सुषुम्ना नामक नाड़ी रहती है। इनमें सुषुम्ना योग में मुख्य है। ऊपर बतायी हुई तीन नाड़ियों के आधार से प्राणायाम साधना पड़ता है। ध्यान दें।

नाभि स्थान के पास वाले गड्ढे को कुण्डली सर्प नामक नाड़ी ने सप्तधा लपेट लेकर, सुषुम्ना नाड़ी को अपना लपेटा देकर, अपनी बालदण्ड नामक लम्बी पूंछ समान नाड़ी से नाभिकन्द के अधोभाग तक शोभायमान होती रहती है। कुण्डली सर्प नामक नाड़ी अष्टविध प्रकृतिरूप होने के कारण बहु (अनेक) आश्चर्य कर रीति से सर्वत्र व्यापकर सकल जीवों के देहात्म्या के धारणा-स्थित को चलन देती रहती है। कुण्डली सर्प ही क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग इन पञ्च-वर्गाक्षरों की संख्या को सम पच्चीस तत्त्वयुत होकर अष्ट प्रकृतिरूप होकर, सकलार्थ साधक होने के कारण समस्त प्राणियों को मोहकर है। वह कुण्डली सर्प नामक नाड़ी प्राणायाम से उदराग्नि को चेताकर (प्रज्ज्वलित कर) स्वयं मात्र नष्ट न होकर, अपने मुख से वह नाड़ी बाहर निकालती है। इसके बिना उसे कभी भी आकुञ्चन करती नहीं। ऊपर दिये कारणों से प्राणायाम जागरूकता से करने के पहले प्राणायाम योगाभ्यास के लिए नाड़ी-शुद्धि आवश्यक है।

卐 卐 卐

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् ।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥
स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति सुरेश्वरि ॥५७॥
स्त्री मातृ पितृ पुत्रादि सम्बन्धः केन हेतुना ?
दुःखमूलो हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः ॥
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नापरः प्रिये ! ५८॥

हे देवि ! इस संसार में आकर यह प्राणी जितने अपने प्यारे (रिश्ते-नाते) सम्बन्ध बनाता है, उतनी ही उसके हृदय में शोक रूपी कीलें ठोकी जाती हैं, क्योंकि यह जीव तो अन्त में अपने शरीर को भी छोड़कर चला जाता है।

हे देवि ! स्त्री, माता-पिता और पुत्रादि का सम्बन्ध किस लिए किया जावे ? (अर्थात् अन्त समय पर इनमें से कोई भी काम नहीं आता)। यह संसार समस्त दुःखों का मूल है। जो इस संसार में है, वह हर प्रकार से दुःखी है। जिसने इस संसार का परित्याग किया है, वही सुखी है, दूसरा कोई नहीं। —कुलार्णव-तन्त्र

सन्तों का लोक धर्म

आचरण के धरातल पर

❀ डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र, नई दिल्ली

निर्गुण काव्यधारा के कवियों की अभिव्यक्ति सहज स्फूर्त एवं स्वयं अनुभव का परिणाम है। यह अनुभव उनके आंखों देखे समाज अथवा इतिहास में से गुजरते हुए संवेदनशील मनुष्य का अनुभव है। उपेक्षित, शोषित, बहिष्कृत, अशिक्षित, शास्त्र-ज्ञान से रहित किन्तु संस्कारवान् ये रचनाकार निर्धन एवं निम्न श्रमिक वर्ग से जुड़े हुए थे। यह समुदाय संख्या में भारतीय समाज का बहुत बड़ा अंग था, किन्तु मध्यकाल की अनेक विषम परिस्थितियों में भी रहा था। इतिहास की उन विषम परिस्थितियों ने ही इनके व्यक्तित्व को विसंगति से लड़ने का साहस प्रदान किया है। चेतना और व्यवहार की निरन्तर लड़ाई में इनकी वाणी जीवन्त एवं ऊर्जस्वित बनती रही है क्योंकि इन्होंने अपने अनुभव के आधार पर ही अपने सिद्धान्त बनाये हैं और उन सिद्धान्तों की व्यावहारिकता को अपनी बानियों में संजोया है। स्वयं अपने जीवन में सन्तों ने अनुभव की धरोहर को आचरण के पथ पर अपनाया है। प्रश्न यह उठता है कि आज के सन्दर्भ में इन आंखों देखी[१] कहने वाले, जीवन और जगत से सीधा साक्षात्कार करने वाले[२] एवं अपने चारों ओर व्याप्त 'वर्तमान' के झगड़ों को ज्ञान अथवा विचार-विवेक की साखी से निपटाने वाले[३] इन सन्तों

---

१. मैं कहता हों आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी ।
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यो अरुझाइ रे ॥
—क० पदा०, पृ० १२१

२. ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै ।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिना मरम को पावै ॥
—क० ग्रं०, पद २१८

३. साखी आंखी ग्यान की, समुझि देखु मन माँहि ।
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नाँहि ॥
—क० बी०, साखी ३५३

की बानियां कितनी मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक और उपयोगी हैं ? ये सन्त मात्र उपदेशक नहीं रहे, बल्कि जन-जन में व्याप्त 'राम' को चेताते हुए विश्वसनीय सामाजिक चरित्र-निर्माण की दिशामें प्रयत्नशील रहे हैं। चेतना से जुड़ा हुआ इनका यह 'राम' सामाजिक आचरण की कसौटी पर रहा है। उनका विश्वास है कि इस कसौटी पर कोई खोटा चरित्र टिक नहीं सकता। कबीर कहते हैं—

खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय।
राम कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय ॥
—क० ग्र०, ४१/६

'मरजीवा' अर्थात जिसने चेतना को विचार या विवेक से जोड़ लिया है, जिसने भक्त होने की समझ का विकास कर लिया है। ऐसा 'भक्त' सङ्कीर्णता को, ऊँच-नीच के दायरों को तोड़कर, अपने-पराए की सीमाओं से बाधित न होकर व्यापक अनुभव से जुड़ जाता है, ऐसे सामाजिक भक्त का आचरण कभी भी असामाजिक, अमानवीय नहीं होगा, क्योंकि उसकी चेतना में एक ही तत्त्व, एक ही पूर्ण, एक ही राम विराजमान है। और इस अनुभव के बाद बुद्धि की सङ्कीर्णता कैसे टिक सकती है ? सन्तकवि दादू का कहना है कि जो रोम-रोम में रम रहा है, वही तो सच्चा जीवन है—

पूरे सों परचा भया, पूरी मति जागी।
जीव जानि जीवनि मिल्या, ऐसे बड़भागी ॥
रोम-रोम में रमि रह्या, सो जीवनि मेरा।
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संगि बसेरा ॥
—सं० का० सं० (दादू), पृ० २५४

सन्त कवि सुन्दरदास कहते हैं कि ऐसे सत ब्रह्म की व्याप्ति में असत, अज्ञान या फिर सङ्कीर्णता कहाँ शेष रहती है ? सूर्य में अन्धकार कहाँ ठहर सकता है—

'एकहि ब्रह्म रह्यौ भरपूरि तौ,
दूसर कौन बताव निहारौ।
जो कहै जीव भयौ जगदीश तें,
तौ रवि माँहि कहा कौ अंधारौ ॥'
—सं० का० सं० (सुन्दर), पृ० ३५१

आदिहि तौ फिर अन्तहु भी,
मद्ध सोई हरि गहिर गम्भीरा।
—या० र०, पृ० १३

जीवनमें चेतना की ऐसी व्याप्ति का अनुभव हो जाने पर जो 'समदृष्टि' प्राप्त होती है, उसमें 'मेरी-तेरी' बुद्धि समाप्त हो जाती है और तब राग और वैर किससे हो सकताहै ?१

---

१. 'भाई रे ऐसा पन्थ हमारा।
द्वै पष रहित पन्थ गहि पूरा, अवरण एक अधारा ॥
मैं तें मेरी यह मति नाँहीं, निर्बैरी निरकारा।
पूरण सबै देषि आपा पर, निरालम्ब निर्धारा ॥'
—संत० का० सं० (दादू०), पृ० २५६

तब तो अल्लाह और 'राम' के आग्रह समाप्त हो जाते हैं। सबको जब एक ही भूख लगती है, तो फिर कौन श्रेय है और कौन हेय? दादूदयाल द्वारा प्रतिपादित साम्य-भाव देखिए—

अलहराम छूटा भ्रम मेरा।
हिंदू तुरक भेद कछु नाहीं, देखौं दरसन तोरा॥
सोई भूष सबनकौं व्यापै, एक जुगति सोइ जानैं॥

सोई संधि बंध पुनि सोई सोई सुष सोई पीरा।
सोई हस्त पांव पुनि सोई, सोई एक सरीरा।
— सं. का. सं. (दादू), पृ. २५५

चेतना की यह विश्वसनीयता सन्तों के लिए आचरण की अनुमापकर ही है। ऐसे विश्वसनीय चरित्रों की स्फूर्त चेतना सहज रूप में बानियों में प्रवाहित हुई है। इसलिए यह बानी देश सीमा और काल सीमा में न बंधकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक तत्वों से अनुप्रमाणित हो उठी है। क्योंकि उनका अनुभव ही उनका विश्वास बना है और वही विश्वास है उनके जीवन और साहित्य के सिद्धांत। इसलिए बानियों में मुखर व्यावहारिक नैतिकता ही उनके सामाजिक विश्वास को प्रकट करती है। वास्तव में नैतिक बल ही समाज में समता और सन्तुलन का आधार है और यही सामाजिकता का सबसे बड़ा धन भी। सन्त कबीर आचरणशील ऐसे चरित्रों को ही सबसे बड़ा और धनवान मानते हैं—

सीलवंत सबसे बड़ा, सब रतनन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि॥
—सं. बा. संग्र. (भाग १), पृ. ५०

सन्तों का लोकधर्म जीवन की व्यावहारिक दशाओं से उपजा है। यही कारण है कि सन्तों ने सामाजिक के आत्मपरिष्कार की सम्भावनाओं को आचरण की कसौटी पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में झूठ, चोरी, कुसंग, पाप आदि वृत्तियां अग्राह्य हैं, किन्तु परिस्थिति के दबाव में, ऐसा हो जाने पर, व्यक्ति के आत्म-परिष्कार, आत्म-चरित्र विकास की सम्भावनाओं को संतों ने समाप्त नहीं माना है। बल्कि, आचरण के प्रेरणाशील भावके साथ ही भावक के व्यक्तित्व को सामाजिक स्वीकृति मिली है। तभी तो सन्त कवि रज्जब कहते हैं—

चोरी की तब चोर है, धर्म काल ह्वै साध।
भाव फिरत भावी फिरी, तिनहुँ मुक्तिफल लाध॥
—र. बा. (पाप पुण्य.) सा. १४

झूठ पाप का मूल है, समय सु मिथ्या साच।
मार मुहम्मद की शरण, क्या बोलै सो बाच॥
—वही. (झूठ सांच) सा. ११

अर्थात् मुहम्मद गजनवी या मुहम्मद गोरी की प्राणलेवा मार के सामने, आत्म-रक्षा हित

शरण प्राप्ति का झूठ किसी सांच से कम नहीं कहा जा सकता। ऐसे समय में मिथ्या भी सत्य बन जाता है, कुसंग-सुसंग दोनों ही व्यक्ति के लिए समाज सापेक्ष है। सन्त बानियों में कुसंग की बुराई व्यक्ति के लोक-धर्म नष्ट होने के कारण ही हुई है और लोक धर्म नष्ट होने पर मनुष्य का अध्यात्म पक्ष ही निर्बल होते-होते क्षीण हो जाता है। कुसङ्ग से कुमति का उदय होता है, जो लोकाचार के पवित्र आदर्श और आध्यात्मिक चेतना में बाधक होता है और जिससे आचरण की प्रतिबद्धता सीमित और खण्डित होती है। देखिए—

रज्जब रहे कुसङ्ग में, कुमति उदय ह्वै जाय।
ज्यूं सुरापान के कुंभमें, खीर ख्वार ह्वै जाय॥
—र. बा. (कुसंगति.) सा. ६

अतः सन्तों द्वारा प्रतिपादित पाप पुण्यकी धारणा पूर्णतः समाज सापेक्ष है और सामाजिक कसौटी ही लोकधर्म का नियामक तत्त्व है। 'जिस कार्य से, जिस आचरण से समाज या सामाजिक को पीड़ा पहुँचे वह पाप है और जिससे सुख मिले वह पुण्य।' सन्तों के पाप-पुण्य का यह स्पष्ट आधार रहा है। उन्होंने दार्शनिक जटिलता में पाप-पुण्य की व्याख्या नहीं की। वे तो अपने को पीड़ा देकर दूसरों को सुखी बनाना ही परम पुण्य मानते रहे हैं और अपने को सुखी बनाकर दूसरों को पीड़ित करना महापाप। उनकी दृष्टि में धर्म क्रिया का ही फल है। संत मलूकदास का आचरणशील आदेश देखिए—

जे दुखिया संसार में, खोवो तिन का दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख॥
—सं. बा. सग्र., (भाग १), पृ. १०४

और दादू परोपकार में ही जीवन की सफलता मानते हैं—

हरि भजि साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहं भला, जहं पसु पंखी खाइ॥
—सं. बा. संग्र. (भाग १), पृ. ७८

रज्जब का कहना है कि कर्मफल के प्रतिकर्म को ध्यान में रखकर ही सामाजिक को कर्म का निर्णय करना चाहिए। इससे मनुष्य के इसी जीवन में सुधार की सम्भावना और सामाजिक समरसता का मार्ग प्रशस्त होता है—

एक कर्म कर्म ऊपजै, एक कर्म कर्म जाय।
रज्जब करम करम कूं, नर देखो निरताय॥
—र. बा (पाप-पुण्य.) सा. ८

कर्म करते हुए सामाजिक के मन में कर्तापन की धारणा घर न कर जाय। इससे अहंकार के प्रबल होकर व्यक्तित्व पर छा जाने की सम्भावना बनी रहती है। इस बुराई से बचने के लिए संतकवि सावधान करते रहे हैं—

ना कछु किया न करि सका,
ना करने जोग सरीर।

जो कछु किया साईं किया,
तायें भया कबीर ॥
—क. ग्रं. ३८/१

'हरि धरि मेरो रूप, करैं सब काम है ॥
—सं. बा. संग्र. भाग २ (पलटू), पृ. २३५

सामाजिक आचरण के प्रसंग में छल-कपट रहित व्यक्तित्व सर्वाधिक दायित्वशील हो सकता है और ऐसा सामाजिक किसी बाहरी डर या डण्डेके भयसे प्रभावी नहीं होता जितना कि अपने निजी अनुशासन से अथवा अनुभव में आये 'राम' की व्यापकता और स्वयं की लघुता के कारण होता है। उस अनुभव में परमात्मा या परम गुरु ही कर्म की कसौटी बन जाते हैं। कबीर कहते हैं—

डर करनी डरपरम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहै सो ऊबरैं, गाफिल खावैं मार ॥
—सं. बा. संग्र. (भाग १), पृ. ४६

समाज, समष्टि अथवा राम-रहीम तो व्याप्ति हैं और व्याप्ति कहीं अतीत या भविष्यत् नहीं होती। 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना' की चेतना सामाजिक प्रसङ्गों में भी बड़ा सम्बल और धैर्य देती है। अर्थात् उच्च-नीच, अमीर-गरीब आदि की धारणायें शिथिल होने लगती हैं। और तब निराशा की टूटन व्यक्ति को बिखरने नहीं देती। ऐसा नहीं है कि ईश्वर गरीब के हिस्से में कुछ कम और अमीर के हिस्से में अधिक पड़ता हो। आचरण में जब यह विश्वास जमने लगता है कि भगवान 'वर्तमान' है और वर्तमान में जीना भगवान में जीना है, तो आचरण से पाखण्ड तिरोहित एवं अहंकार विगलित होने लगता है। तब आन्तरिक चेतना सहज साम्य का अनुभव करने लगती है, क्योंकि वर्तमान में जागरूक होकर जीना 'साम्य' में जीना है। इससे बड़ी साम्य भावना संसार में क्या हो सकती है? ऐसे जीवन में सामाजिक की दुष्कर्म वृत्ति स्वयं समाप्त होने लगती है, क्योंकि ऐसा कोई स्थल नहीं अथवा एकान्त नहीं, जहाँ मनुष्य छिपकर दुष्कर्म कर सकता हो और क्योंकि 'वर्तमान' सर्वत्र व्याप्त है। फिर चोरी कौन किसके खिलाफ करेगा? किससे छिपकर करेगा? वास्तव में जो परिवेश हमको मिला है, उपयोग के लिए मिला है। जीवन में मनुष्य होने की अनुभूति एक उपलब्धि है और मनुष्य शरीर सामाजिक कर्त्तव्य पालन का साधन मात्र है। उस साधन का उपयोग परम प्रेय, परम श्रेय, परम मति,[1] परम व्याप्ति

---

१. परम भई मति निरगुन पुरखीं।
सगुनु कलावति अभेद भगती नित्य नयी तरकी ॥
स्थावर जंगम संगम माहीं कोहि नहीं परकी।
एक अनेकी आतम पूरन है अजरामर की ॥ —म. सं. हि. वा., अनंत. पद ५५

अथवा यों कहें कि सामाजिक होने की परमता में ही संभव है। चैतन्य के अनुभव द्वारा ही संत कवियों ने जीवन की मूल्यवत्ता प्राप्त की है और प्राप्त करने की प्रेरणा भी दी है—

अरिजाव ऐसा जीवनां,
राजा राम सूं प्रीति न होई।
जन्म अमोलक जात है,
चेति न देखै कोई ॥
—क. ग्र., पद १२७

हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय।
—सं. बा. संग्रह (भाग १) पृ. ६

जब वह परम तत्त्व व्याप्त है, वर्तमान है तो उसे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण अथवा जातियों सम्प्रदायों या भाषाओं और देशों में सीमित करने का प्रश्न ही नहीं उठता—

पूरिब दिशा हरी का बास,
पछिम अल्ह मुकामां।
दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि,
इहां रांम रहिमांनां ॥
—क. ग्रं पद २५६

हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत।
— क. ग्रं., सा. २/३०

आचरण की इस चेतना साधना में हठयोगी 'करनी' की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इन सबसे मन कुण्ठित होता है।१ संतों ने सामाजिक के आचरण के लिए मन को मारने से अधिक मन के रूपान्तरण पर बल दिया है। 'मन' तो अपरिमित शक्ति सम्पन्न है, वह मारा नहीं जा सकता। उसकी दिशा बदली जा सकती है। उसकी असद् वृत्तियों को सद् वृत्तियों में ढाला जा सकता है, क्योंकि ये असद् वृत्तियां ही समरसता या सामाजिक जीवन में बाधक बनही रहती हैं। चेतना की समरसता प्राप्त करने अथवा सहज जीवन के लिए मन के उन्मुखीकरण की आवश्यकता रहती है। कबीर कहते हैं कि उन्मुखीकरण के बाद मन की सम्पूर्ण संकीर्णतायें समाप्त हो जाती हैं, तो समरसता प्राप्त करने में, 'वर्तमान' साहब के सन्मुख बने रहने में देर नहीं लगती लेकिन इसके लिए बालक की सी सरलता, निश्चय और उमंग चाहिए—

मन गोरख मन गोविंदो, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता होइ॥

१- कै मन रहै आसा पास। कै मन रहै परम उदास।
कै मन रहै गुरू की ओले। कै मन रहै कामिनि कै खोले ॥
दाबि न मारिबा खाली न राखिबा जांनिबा अगनि का भेवं।
—गो. बा., सबदी १७२/३

'मन रे राजा राम होइलै नृहन्द।' —गो. बा, पद ५६

जे तन मांह मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सौं सनमुख रहै, तौ फिरि बालक होइ।।
—क. ग्रं. १३/१०, खप्रति १२

चिन्तन दशा में सामाजिक जीवन की विश्वसनीयता स्वतः प्राप्त हो जाती है, क्योंकि वहाँ 'कहनी' से अधिक 'रहनी' अर्थात् स्वरूप में चेतना की निरन्तरता की आवश्यकता बनी रहती है, क्योंकि वहाँ मानने और जानने से अधिक 'पहचान' का अनुभव क्रियाशील बना रहता है अर्थात् रात्रि का आलस्य समाप्त होकर दिन की क्रियाशीलता बनी रहती है। महामति प्राणनाथ का कहना है कि रात में लोग कह सुन कर बैठे रहते है, क्योंकि रात 'कहनी' से आबद्ध है। 'रहनी' अर्थात् आचरण के बिना कहना किस काम का ? यह आचरण ही तो परमात्मा के द्वार अनावृत करता है, अन्यथा मनुष्य 'चाम' अर्थात् भौतिक तक ही सीमित बना रहता है–

कदी कहेनी कही मुख से,
बिन रहेनी न होवे काम।
रेहनी एक पोहोंचावही,
कैहेनी लग रही चाम ।।
—कियामत० छो० १/५५

'रहनी' के अनुभवमें समय का मूल्य अथवा समय की सामाजिकता हाथ लग जाती है और वह जीवन के बहुमूल्य समय को किसी बड़ी मूल्यवत्ता से जोड़ने के लिए तत्पर हो उठता है। विचारक संत हाथ में आये अवसर को चूकने नहीं देना चाहता। इसी की वह प्रेरणा देता है -

आज कहै मैं काल्ह भजूंगा,
काल्ह कहै फिर काल्ह ।
आज काल्ह के करत ही,
औसर जासी चाल ।।
सं० बा० संग्र० (भाग १), पृ० ६

सामाजिक के लिए समय की इस प्रकार की चेतना कर्म के प्रति अनास्था, अविश्वनीयता को समाप्त कर देती है। ईश्वर पर आश्रित होने का तात्पर्य परपिण्डोपजीवी होना कदापि नहीं हो सकता। उनकी दृष्टिमें 'वर्तमान' में जीना आलस्यपूर्ण भाग्यवादी जीवन का द्योतक कभी नहीं हो सकता। मनसा-वाचा-कर्मणा लोकधर्म में निष्ठा रखने वाले इन संतों ने अपने पारिवारिक, सामाजिक उत्तरदायित्व से कभी मुख नहीं मोड़ा। उनके लिए तो कर्म ही भाग्य का दूसरा नाम है। जीवन की विषम परिस्थिति में जीना पड़े तो ऐसी विषमता को साहसपूर्वक झेलने, सामना करने और निर्वाह करने की प्रेरणा उन्होंने सदा जनजीवन को दी है—

जो जैसा करै सु तैसा पावै।
आपि बीजि आपे खावै ।।
—नानक, गुरु० ग्रं०, पृ० ३५७

खूब खांड़ है खीचड़ी, माँहि पड़े टुक लूंण ।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौंण ॥
--क० ग्र० २२/१२

अनुभव में जब लोकधर्मी समरसता' ईश्वर अथवा 'वर्तमान' आ जाए तो फिर जीवन में किया हुआ श्रम जीवन को आनन्द से भर देगा, क्योंकि बोध के साथ श्रम और दैन्य में कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसा श्रम जीवन में उल्लास भर देता है। कारण यह है कि लोकधर्मी सन्तों ने चेतना के प्रकाश में निर्वाहित सामाजिकता में कर्तापन अर्थात् अहंकार के दोष को दूर रखने की प्रेरणा दी है। अहंकार का परिणाम प्रतिकर्म अथवा प्रतिशोध की धारणा में बदल जाता है। कबीर कहते हैं कि ऐसा कर्म किया जाय, जो 'कारण' की विषमता को समाप्त करके विचार में पुष्प की सुगन्धि के समान समाज को उल्लसित करते हुए जीवन की जड़ता को आकाश की व्याप्ति प्रदान कर सके। वास्तव में वासना के अभाव में सामाजिकता की सम्पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जीवन में ऐसे चिन्तन की कितनी आवश्यकता है, जो सम्पूर्ण चिन्ताओं से मुक्ति दे सके—

एक अचम्भा ऐसा भया ,
करणीं थे कारण मिटि गया।
सहस्र करणीं किया करमका नास,
पावक माँहि पुहुप प्रकास ।
पुहुप माँहि पावक प्रजरै ,
पाप पुंन दोऊ भ्रमटरै ।
प्रगटी बास बासना धोइ ,
कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।
उपजी च्यंत च्यंत मिटि गई ,
भौ भ्रम भागा ऐसी भई ।
उलटी गंग मेर कूँ चली ,
धरती उलटि अकासहि मिली।
—क. ग्र., पद ३२६

संतों की ईश्वराश्रित चेतना स्वावलम्बी चेतना का प्रतिफल है। जब चेतना में ईश्वर विराजमान हो गया, समरसता आ गई तो यह परम सामाजिकता की द्योतक है। ऐसी सामाजिकता में प्रतिष्ठित चेतना विश्वसनीय आचरण की द्योतक होगी ही और तब किसी प्रकार का उद्यम, व्यवसाय या नौकरी सामाजिक की चेतना को स्वार्थपरता की सीमाओं में संकीर्ण नहीं होने देती। इसलिए कबीर कहते हैं कि साधु जीवन में ऐसा उद्यम आनद देने वाला होता है, क्योंकि आचरण में यदि कोई कपट की पोट या ग्रन्थि नहीं है तो जीवन में किसी प्रकार का भय और बन्धन सम्भव नहीं होगा। परिश्रम के बिना प्राप्त सिद्धि सामाजिक चोरी का ही परिणाम होती है, जो लोभ, मोह और भय की प्रवृद्धि करती रहती है। इसलिए परिग्रह में 'हरि' की

व्यापकता समाप्त होती रहती है।१ देखिए—

उद्दिम औगुण को नही जो करि जानै कोय।
उद्दिम में आनन्द है, जे साईं सेती होय॥
—दा. बा. भाग १, पृ. १८५

संतों ने लोकधर्मी सामाजिक जीवन के आचरण का भली प्रकार प्रतिपादन किया है क्योंकि इसमें चेतना की संकीर्णता का कोई भय नहीं है—

नामा कहै तिलोचना, मुखौं राम संभालि।
हाथ पांव कर काम सब, चित्त निरंजन नालि॥
—गुरु. ग्र. पृ. ७४०

खुलि खेलो संसार में, बांधि नसक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, सिरपर पोट न होय॥
सं. बा. सं. (भाग १)(कबीर) पृ.१२

अतः कहा जा सकता है कि मध्यकाल के सन्तों की साधना वैयक्तिक होते हुए भी पूर्णतः लोकधर्मी और सामाजिक है क्योंकि उनके ईश्वरीय प्रेमकी विभोरता का परिणाम व्यक्ति को साधु बनाना है, सामाजिक बनाना है, निष्प्राण बने जनजीवन को सांस्कृतिक चैतन्य से तरंगित करना रहा है। साधना को लोकग्राह्य और जन-सुलभ बनाने के लिए रूढ़ विश्वासों की जड़ता को तोड़ने का प्रयत्न इन संतोंने किया है। इन्होंने सामाजिकता प्राप्ति के लिए साधु और सत्संग को बहुत महत्व प्रदान किया है। यहाँ तक कि आचरण की कसौटी 'साधु' को जगपति से भी ऊँचा बताया है—

जिनके दरस परम सुख उपजै,
सो आये चलि द्वारे।
जन रज्जब जगपति सों ऊँचे,
प्राण उधारण हारे॥
—र० बा० (राम गोंड), पद ११

सम्पूर्ण मध्यकाल में इस प्रकार के सन्त व्यक्तिगत साधना करते हुए समाज के बीच जीते रहे हैं और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही सात्विक वृत्तियों का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं। इनकी सेवा भावना लोक-मंगल की कामना से प्रेरित रही है। इन्होंने उस समय की दग्ध और विषम परिस्थितियों में अपने प्रयास से जन जीवन की आस्था को सिंचित और पोषित किया है। अतः इनके कार्यों का, चेतना प्रसार का परिणाम सम्प्रदाय या वर्ग तक सीमित नहीं माना जा सकता क्योंकि इनका उद्देश्य कर्म एवं सदाचार का

१— सौ पापन का मूल है, एक रुपैया रोक।
साधू कै संग्रह करै, हारै हरि सा थोक॥
—सं०बा० संग्र० (भाग १), (कबीर) पृ० ५७

समन्वय करके समाजीकरण और धर्म को व्यक्ति की सीमा से बाहर लाकर सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित करना रहा है। इन्होंने धर्म की कठोरता को सहज बनाते हुए उसे सामाजिक की सामर्थ्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। इन्होंने एक अच्छे वैद्य की तरह सामाजिक की अन्तर्बाह्य व्याधियों का उपचार किया है। जहाँ उन्होंने परमता की प्राप्ति के लिए स्वरूप-दर्शन अर्थात् आत्म-विश्लेषण की औषधि प्रदान की है, वहीं सांसारिक लोभ-प्रलोभनों में संयम का पथ्य भी बताया है। संतों का आध्यात्मिक चिन्तन लौकिक धर्म से विपरीतमुखी कहीं नहीं हुआ है। उनका तो विश्वास है कि श्रेष्ठ सामाजिक बनकर ही सात्विक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में सुगमता और सहजता होती है। इसीलिए संतों की भक्ति, सेवा-भावना, परहित साधन जीवन के आचरण के अनुरूप ही हैं।१ संतों द्वारा प्रतिपादित जीवन-यापन की एक संतुलित विधि है, जिसे उपदेश के द्वारा नहीं, आचरण के द्वारा ही अपनाया जा सकता है। इसलिए आचरण से रहित ज्ञानी 'संसारी' से भी गया बीता माना गया है—

ग्यानी मूल गंवाइया, आपण भये करता।
ताथैं संसारी भला, मन में रहै डरता॥
—क० ग्र०, २०/२७

इन्होंने तो व्यवहार की विश्वसनीयता पर ही आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि को अपनाया है। इस अर्थ में संतों का जीवन एक वैज्ञानिक का जीवन कहा जा सकता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक के लिए रूढ़ मान्यताओं अन्धविश्वासों के स्थान पर प्रयोगशाला की परख एवं बौद्धिक विश्लेषण महत्वपूर्ण रहते हैं, वैसे ही संतों के अनुभव की प्रयोगशाला जीवन का आचरण रहा है, जिसमें परख कर ही उन्होंने विवेक के सहारे अपने विचारों में सिद्ध किया है। इसीलिए उनके कथन और व्यवहार में आडम्बर को कोई स्थान नहीं मिला और इसीलिए वे पुस्तक प्रमाण या शास्त्र की कथनी का प्रमाण न मानकर अनुभव को प्रमाण मानते हैं। 'कह कबीर कैसे

१— सेवग सो जो लागै सेव। तिनहीं पाया निरंजन देवा।
—क० ग्र० पद ३४८

'भाव भगति विसवास बिनु कटै न संसै मूल।'
—क० ग्र०, रमैणी, पृ० १८६

'परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।'
—रा० च० मानस, उत्तर०

जूठी पत्तर चाट।' अर्थात् कही कहाई बातों से कहीं व्यवहार का, यथार्थ का पेट भरता है? संतों की व्यावहारिकता और उसकी प्रयोग धर्मिता को समझे बिना कुछ विद्वानों ने संतों के मार्ग को बीच का, दो अतियों के बीच का मार्ग अथवा बौद्ध धर्म की प्रेरणा के अनुरूप 'मध्यम मार्ग' बताया है। और कुछ ने उनके चिन्तन को औपनिषदिक मूल का बताते हुए उसमें दार्शनिकता सिद्ध की है।१ परन्तु वास्तव में संत-साहित्य की चेतना के अध्ययन में जब तक सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन की भूमिका का अभाव ही रहा है। संत बानियां बौद्ध धर्म के अनुरूप भिक्षु जीवन की उदासीनता से परिपूर्ण सन्यास प्रधान नहीं है। संत-साहित्य परम्परा का विकास तो है, परन्तु तत्कालीन सामाजिकता की प्रतिक्रिया और उसका फल भी है। उसकी प्रेरणा के बीज तत्कालीन समाज में सुरक्षित है। दादू कहते हैं कि संत न तो संग्रही होता है और न एकान्त त्यागी—

ना हम छाड़ें ना ग्रहैं, ऐसा ग्यान विचार।
मद्धभाव सेवैं सदा, दादू मुकति दुआर॥
—दा. बा. भाग १), पृ. १७०

यह 'मद्धभाव' कबीर के शब्दों में 'वसुधा और व्योम' की आसक्ति से रहित और सहित दोनों ही हैं—

अनल अकासां घर किया, मधि निरंतर बास।
बसुधा व्योम विरक्त रहै, बिना ठौर बिकवास॥
—क० ग्र०, २१/३

यह 'मध्यम मार्ग' पलायनवादी मार्ग नहीं है। कायर इस पर नहीं चल सकता। कोई संकल्पी शूरवीर ही इस पर आचरण के पग बढ़ा सकता है।२ लक्ष्य-प्राप्ति की बेचैनी, परमता प्राप्ति की अकुलाहट जीवन में दर्द को उत्पन्न करती है।३ और यह दर्द-संवेदन विचार को, चिन्तन को जन्म देता है और चिन्तन प्रगति का, स्वातन्त्र्य का, सामाजिकता की परमसिद्ध का अनुभव कराता है। इसलिए संतों का 'मध्यभाग' द्वन्द्व से उत्थित, दो पक्षों के संघर्षण से उत्पन्न सृजन का,

---

१— देखिए—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ. २३९
—संत-साहित्य औपनिषदिक विचार धारा के परिवेश में, पृ. २१८

२— जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अबुज सर मांहि।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नांहि॥
—सं. बा. संग्र. (भाग १), पृ. १४८

३— 'विरह जगावैं दरद को, दरद जगावैं जीव।'
—सं. बा. सं. भाग एक (दादू), पृ. ८२

विकास का, मानवीय चेतना का मार्ग है, सामाजिक आचरण की कसौटी है। यह किसी प्रकार भी समझौतावादी मार्ग नहीं है। इसमें यदि समन्वय है तो जीवनी शक्तिका है जिसमें सृजनात्मक पक्ष कहीं ओझल नहीं होता। संत रज्जब के शब्दों में अंकुर के समान जीवन यह 'तीजो रसरीति' हमारे लिए आज भी प्रेरणा का स्रोत हो सकती है—

ह्वै पख बीरज दालि हैं, बिच अंकुर अतीत।
सो रज्जब ऊँचा चल्या, यहु तीजी रसरीति।
—र बा., सा. ६

अर्थात् बीज में दो दौल होते हैं जो धरती से शक्ति ग्रहण कर अंकुर के रूप में तीसरी शक्ति बन जाता है, जो बाधाओं की पर्तों को चीरकर ऊपर उठता है और अतीत का संस्कार भी जिसमें बना रहता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जनजीवन से आए हुए, आम आदमी की जिन्दगी से जुड़े रहकर, परिवेश की समस्याओं से भली प्रकार अवगत इन संतों की लोकधर्मिता का सम्प्रेषण लोकभाषा में, भावा काव्य में हुआ है और ऐसा करते हुए इन्हें अभिप्रेत को, मन्तव्य को दूसरों तक पहुँचाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। इसलिए संतों की चेतना जनसामान्य को संवाहित करने में सफल हुई है और आज भी यह आचरण भ्रष्ट समाज को दिशा-निर्देशन करने में समर्थ है, यदि उनके प्रति हीनता का, अशिक्षित होने का, गंवारपन का भाव त्याग दिया जाय तो, वास्तव में हर युग अपने समय के संदर्भ में ही अतीत को देखता - परखता आया है और उसकी प्रासंगिकता की तलाश भी करता रहा है। इस तलाश में अतीत का जो कुछ भी प्राणवान् होकर उभरता है, वही वर्तमान का, भविष्यत् का प्रेरक भी बनता है और हित साधक भी। इतिहास का विकास, समाज की प्रगति उक्त 'तीजी रीति' से निरंतर होती रहती है। इस विकास के दर्पण में ही समाज निरन्तर अपने वर्तमान को देखता है। वास्तविकता तो यह है कि अतीत के साथ आगत भी उस 'वर्तमान' में प्रतिबिम्बित होता रहता है। आज वर्तमान का दर्पण सामाजिक के आचरण की छवि को धूमिल रूपमें, विकृत और विसंगत रूप में बिम्बित कर रहा है। इस मलिनता को दूर करने के लिए संतों की रहनी और कथनी दोनों ही प्रेरक हो सकते हैं। प्रगति के इस युग में संतों के 'राम' से अर्थात् समष्टि या सामाजिकता से अथवा एक शब्द में कहें तो 'वर्तमान' से बौद्धिक और व्यावहारिक परिचय की आवश्यकता है और सामाजिक साम्य और प्रतिबद्धता के लिए निरन्तर जागरण की। लक्ष्य को समझ कर ही यात्रा प्रारम्भ होनी चाहिए। इस लेख को कबीर के शब्दों में इस प्रकार समाहित किया जा सकता है—

चलो-चलो सबको कहै, मोहि अन्देसा और।
साहिब सूं परचा नहीं, ए जाहिगे किस ठौर॥
—क. ग्र., १४/४

सोया सो निष्फल गया, जागा सो फल लेय।
—सं.बा. सं. भाग १ (कबीर), पृ. ५९

✿ ✿ ✿ ✿

सिद्धयोग एवं सिद्धगुफा प्रकाशन

के

स्वाध्याय का सुपरिणाम

❀ श्री महेन्द्रनारायणसिंह कोटपर, मीरजापुर बरैनी

फरवरी १९६७ ई० में परम कृपा-निकेतन श्री गुरुदेव जी का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में योग प्रचारार्थ एक सप्ताह का कार्यक्रम निश्चित हो चुका था। विश्वविद्यालय की ओर से विधिवत् निमंत्रण भेजने की कुछ विभागीय कार्यवाही शेष थी। वहां पर प्रभुजी के निवास, सभास्थल, प्रवचन मंच आदि की व्यवस्था देखने के लिए कछवा के आदरणीय गुरुभाई श्री विजयसिंह एम-एस-सी को साथ लेकर १८ फरवरी को मैं विश्वविद्यालय के कुलसचिव से उनके बंगले पर जाकर मिला, कुलसचिव डा० काशीनरेशलाल जी बड़े ही मृदुभाषी, मिलनसार एव धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं, श्री गुरुदेव भगवान के वे बड़े ही कृपा पात्रों में से हैं, दयासागर ने उन्हें कृपापूर्वक ध्यान की उच्चतम स्थिति प्रदान की है। श्री-चरणों की असीम कृपाओं का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया कि श्री गुरुदेवजी के कमलवत् चरणों का स्थूल दर्शन तो प्रथम बार मुझे गत् २१ जनवरी १९६७ को प्रभुजी के कलकत्ता कार्यक्रम पर जाते समय मुगलसराय रेलवे जंक्शन पर रात में हुआ था। इसके पहिले मैंने श्री 'सिद्धगुफा प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित मासिक 'सिद्धयोग' में अनाथ-नाथ द्वारा लिखे गए विशेष लेखों में मन की एकाग्रता के उपायों को पढ़कर लगन पूर्वक उक्त नियमों का क्रियात्मक प्रयोग करना प्रारम्भ किया। श्री गुरुदेवजी की कृपा से मुझे कुछ ही दिनों में दिव्यानुभूतियां होने लगीं। जिन्हें प्रार्थना पत्रों द्वारा मैं गुरु-चरणों में निवेदन करता रहता था। पहले ध्यान में गुरुदेवजी का तथा बाद में भगवान सदाशिव का दर्शन होने लगा। अपने ध्यान में कैलाश दर्शन का वर्णन करते हुए उन्होंने सभी को आश्चर्य-चकित कर दिया, बताया कि मुझे ध्यान में कैलाश पर्वत का जैसा विस्तार दीखा, वह

ध्यान से उठने पर मैंने सारा पैमाना लिख लिया, इसके पश्चात् पुराने पत्र पत्रिकाओं को इस विचार से अपने केन्द्रीय पुस्तकालय में ढूढ़ना प्रारम्भ किया कि शायद कहीं आधुनिक ढंग से खोजे गए कैलाश के आकार प्रकार का पता चल जाये तो अपने ध्यानानुभव से मिलान करूँ। दैवयोग से अंग्रेजी शासन काल में वायुयान द्वारा कैलाश की सर्वे की हुई रिपोर्ट पुस्तकालय में प्राप्त हो गई। मैंने अपने नोट से मिलाया तो दोनों एक ही प्रकार की थीं।

अपना एक दूसरा ध्यानानुभव भी उन्होंने बताया। उनका एक पुत्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु सपत्नीक अमेरिका गया हुआ है, उस लड़के ने पत्र द्वारा कुल-सचिव महोदय को सूचना दी कि वहाँ अमेरिका में उसकी पत्नी को कन्या रत्न की प्राप्ति हुई है, उक्त समाचार प्राप्त होने पर दूसरे दिन प्रातः काल रजिस्ट्रार महोदय ने ध्यान में बैठने पर श्री गुरुदेवजी से मानसिक प्रार्थना की कि हे सर्वसमर्थ अन्तर्यामी दयासिन्धु अमेरिका में उत्पन्न मेरी नवजात पौत्री को मुझे ध्यान में दिखा देने की अनुकम्पा कीजिए। भक्त भवभय-भञ्जन कृपासागर ने मेरी मूक प्रार्थना चरितार्थ कर दी। ध्यान में प्रथम कुछ देर तक श्री गुरुदेवजी का दर्शन होता रहा, पुनः अमेरिका के उक्त कमरे का सारा दृश्य दर्शन होने लगा। ध्यान से प्रसन्नतापूर्वक उठकर मैंने समुद्री तार द्वारा अपने पुत्र को अमेरिका में सन्देश भेजा कि नवजात पुत्री तथा अपने निवास वाले कमरे के कई चित्र कई ओर से खिंचवाकर शीघ्र भेजो। उनके पितृभक्त पुत्र ने यथाशीघ्र आज्ञा पालन किया। गुरुजी ने ध्यान में पौत्री का जैसा स्वरूप दिखलाया था, अमेरिका से भेजे गए चित्रों से ज्यों का त्यों मिल रहा था, पर कमरे की वस्तुयें जो ध्यान में देखी थी, पुत्र द्वारा भेजे गए चित्रों में कुछ कम थी, मैंने पत्र द्वारा लड़के से पूछा कि उस कमरे में अमुक-अमुक वस्तुयें और हैं या नहीं। मेरे पुत्र एवं पुत्रवधू ने अपने पत्रोत्तर में उक्त वस्तुओं का उस कमरे में होना स्वीकार करते हुए साश्चर्य पूछा कि पिताजी आपको उन वस्तुओं के होने का पता कैसे चल गया। उन्हें क्या पता था कि जगतनियन्ता श्री गुरुदेवजी की असीम चरणछाया उनके भाग्यशाली पिता पर अनवरत पड़ रही है, जिसके कारण उनकी उच्च ध्यान स्थिति बनी हुई है।

ध्यान में प्रार्थना करने पर तत्काल गुरु कृपा वर्षा

मीरजापुर जिलान्तर्गत बरैनी ग्राम के निवासी श्री सभाजीतसिंह जी गौतम अनन्त कोटि योग-योगेश्वर परम सद्गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के युगल पादपद्मों के बड़े ही

श्रद्धालु एवं मूक भक्त हैं। अनन्त श्री के बर्नी पधारने पर आरती, पूजन, कीर्तन, प्रवचन आदि प्रत्येक कार्यक्रम में खूब भक्तिभाव से सम्मिलित रहते हैं। भौतिक रूप से अभी तक बाबू साहब देवाधिदेव से दीक्षा नहीं लिये हैं, लोगों द्वारा दीक्षा न लेने का कारण पूछने पर बताते हैं कि जगतवंद्य श्री गुरुदेवजी ने अपने पावन प्रवचन में आदेश दिया है कि "मंत्रं मूलं गुरु वाक्यं"। गुरुदेव के श्रीमुख निकला वाक्य ही गुरु मंत्र है। इसी आदेश का मैं यथासाध्य पालन करता हूँ। जगदाधार ने प्रवचन सभा मण्डप में जो मंत्र सर्वसाधारण को बताया है, विश्वासपूर्वक मैं उसी महामंत्र का जप करता हूँ, तथा दयानिधि का ध्यान करता हूँ, वैसे गुप्त रूप से मनीआर्डर द्वारा दक्षिणा अर्पण, गुरुचरण गान, प्रार्थना पत्रादि यदा कदा श्री चरणों में अर्पण किया करते हैं। अहैतुकी कृपा के दाता की उन पर कृपावर्षा भी अनवरत होती रहती है। देवाधिदेव ने उन्हें कृपापूर्वक उच्च ध्यान स्थिति प्रदान की है। प्रायः उन्हें दिव्य दर्शन हुआ करते हैं। गत् १९६६ ई० के फाल्गुन मास में श्री सभाजीतसिंह जी के सभी पौत्रियों एवं एक मात्र पौत्र को चेचक का भीषण प्रकोप हुआ, बच्चे की सारी देह में बड़े-बड़े दाने निकल आये, भीषण ज्वर भी रहता था, कुछ दिन इसी प्रकार बीतने पर सभी की आँखें बन्द हो गईं, बेहोशी में वे सब गुमसुम पड़े रहते थे, शरीर क्षीण होने लगा, लक्षण बुरे दीखने लगे, परिवार के सभी लोग भावी आशंका से घबड़ाने लगे। इसी भय मिश्रित घबराहट में एक दिन बाबू साहब ध्यान में बैठे, कुछ देर बाद उन्हें अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज उनके पौत्र एवं पौत्रियों को प्रसाद वितरण करते हुए दर्शन देने लगे। इधर कई दिनों से लेटी-लेटी उनकी एक पौत्री भी उठकर बैठ गई तथा जोर से कहने लगी। देखो दाढ़ी वाले बाबाजी आये हैं, प्रसाद दे रहे हैं, भइया तुम भी ले लो, छोटी मुन्नी को बाबा जी प्रसाद नही दे रहे हैं, उक्त बातें कहते हुए दाहिने हाथ की बंधी मुट्ठी बार-बार मुँह के पास ले जाकर मुँह चलाते हुए प्रसाद खाने का उपक्रम कर रही थी। श्री सभाजीत सिंह जी ने भी ध्यान में देखा कि महाप्रभुजी उक्त बच्ची को प्रसाद नहीं दे रहे हैं। शेष सभी को कृपा प्रसाद देकर चले गए। ध्यान से उठने के बाद उन्होंने सब कृपा लीलायें घर वालों से बतायी। उसी समय से सभी बच्चों की हालत में सुधार होने लगा, परन्तु न प्रसाद पाने वाली बच्ची की हालत पूर्ववत् रही, तथा कुछ दिन पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। शेष सभी बच्चे चंगे होकर गुरु कृपा से अभी तक सानन्द हैं, कोई भी अंगहीन नहीं हुआ। हां

चेहरे एवं शरीर पर घाव के बड़े-बड़े दाग अभी तक विद्यमान हैं।

श्री गुरुदेवजी द्वारा प्रदत्त पुष्प माल्य के प्रयोग का चमत्कारी प्रभाव

बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले में उत्तर प्रदेश के मीरजापुर व बनारस जिले के भूमिहार ब्राह्मणों की सैकड़ों वर्षों से खेती होती है नेपाल की तराई से सटे होने के कारण वहां की भूमि धान एवं ईख के लिए प्रसिद्ध है, उक्त क्षेत्र में चीनी की कई मिलें हैं। मीरजापुर जिले के कछुवा थानान्तर्गत बरैनी ग्राम के निवासी ठा० अवध-नरेशसिंह जी बेलहरिया भूमिहार ब्राह्मण की भी खेती चम्पारन जिले के बगहा थानान्तर्गत एकडेरवा ग्राम में होती है, इस वर्ष १९६७ ई० में उत्तरी बिहार का लाखों एकड़ भूमि में धान की फसल में मधुआ नामक कीड़े लग गए हैं, इससे धान के पौधे सूखकर नष्ट हो जाते हैं, इन कीड़ों को नष्ट करने के लिए बिहार सरकार वायुयानों द्वारा फसलों पर दवा का छिड़काव कर रही है। श्री अवध नरेशसिंह जी गत १९६७ ई० के चैत्र रामनवमी के उत्सव पर सवाई आश्रम पर गुरुचरण दर्शनार्थ गए थे, साथ में उनकी सुपुत्री सुश्री राजकुमारी देवी भी गई थीं, घर लौटते समय परम करुणानिधि श्री गुरुदेवजी ने पिता पुत्री को प्रसाद स्वरूप पुष्पहार देने की अनुकम्पा की। राजकुमारी ने अपने पिता जी से प्रार्थना की कि इन पुष्प मालाओं को पवित्रतापूर्वक मां सुरसरि की शुभ्र धारा में प्रवाहित कर दीजिए, पर गुरुचरण प्रेरणावश बाबू साहब उक्त दिव्य मालायें अपने साथ बिहार प्रान्त के अपने खेतों पर लेते गए, तथा माला के कुछ पुष्पों की पांखुड़ियां मस्तक से लगाकर श्री गुरुदेवजी का स्मरण करके अपने धान के खेतों में बिखेर दिया, साथ ही प्रार्थना की, हे सर्वशक्तिमान श्री गुरुदेवजी गत वर्ष के भीषण सूखे से धान की सारी फसल मारी गई, जिससे आर्थिक तंगी का शिकार होना पड़ा, इस वर्ष की फसल न खराब होने पावे नहीं तो कहीं का न रहूंगा। कारण हम दीन किसानों को जीवन यापन के लिए केवल खेती का ही सहारा है। अशरण-शरण परम सद्गुरुदेव ने उनकी आर्त पुकार सुनली, पास पड़ोस के धान के खेतों में मधुआ कीड़ों का भीषण आक्रमण हुआ, पर अवध-नरेशसिंह के किसी भी खेत में कीड़ों का प्रकोप नहीं हुआ। वे प्रसन्न एवं निश्चिन्त थे, पर बाद में गांव के पास के गोइड के अच्छी फसल देने वाले दो खेतों में दो तीन स्थानों पर एक क्यारी खेत में कीड़ों के प्रकोप के लक्षण दिखाई पड़े, उक्त स्थानों के कुछ धान के पौधे सूखने लगे, इन्हें भय हुआ कि सारे खेत में कीड़े फैल करके कई बीघा धान नष्ट कर देंगे। इनके एक मात्र सुपुत्र श्री रामचन्द्र प्रसाद

सिंह जी ने जो वहीं चम्पारन जिलान्तर्गत परसा ग्राम के मिडिल स्कूल में अध्यापक हैं, बी.डी.ओ. के यहां जाकर खेत का सब हाल बताया। बी.डी.ओ. ने बताया कि बिहार सरकार के नियमानुसार पहले प्रति बीघा १५) के हिसाब से अग्रिम रुपया जमा कर दो तब हम सरकारी कर्मचारी भेजकर आपके खेतों में कीटनाशक औषधि का छिड़काव करा देंगे। साथ ही सारे सूखे पौधे उखाड़कर शीघ्र बाहर फेंक दीजिए नहीं तो रोग सर्वत्र फैल जायगा। अवध नरेशसिंह सब बातें सुनकर सोचने लगे कि गुरुदेवजी द्वारा प्रदत्त प्रसाद कभी असफल नहीं होता, पुष्प प्रसाद खेतों में बखेरते समय सभंवतः उक्त स्थानों में पुष्प पखुंड़ियां न पहुँच पाई होंगीं, अतः दूसरेदिन शेष बची पुष्पकी पखुंड़ियां रोग लगे खेत में उन्होंने जाकर गुरुचरण का स्मरण करके पुनः बखेर दीं, साथ ही प्रार्थना की कि हे दीनबन्धु गुरुदेवजी शरणागत की रक्षा कीजिए। दुबारा पुष्प-प्रसाद के छिड़काव से उनके खेत का रोग समाप्त हो गया, सूखे हुए पौधों में भी नये-नये अंकुर निकलकर तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। अभी हाल ही में श्री अवध नरेशसिंह चम्पारन से सपत्नीक लौटकर घर बरैनी आये हैं। वे गुरुचरणों में दीक्षित भी नहीं हैं, पर गुरुदेव द्वारा प्राप्त पुष्प प्रसाद के चमत्कारी प्रभाव का खूब मन्त्र मुग्ध होकर लोगों से वर्णन करते हैं।

निराश पत्नी की रुदनमय प्रार्थना पर गुरु प्रसाद प्राप्ति से पति शीघ्र स्वस्थ

पूर्व निश्चित् कार्य क्रमानुसार १ जनवरी १९६६ ई० में योग प्रचारार्थ एवं अपने प्रिय भक्तों को अपने पावन चरण कमलों का दर्शन देने हेतु सद्गुरुदेव भगवान बरैनी ग्राम में पधारने की अनुकम्पा प्रदान किये थे। बादलों एवं बूंदाबांदी के कारण जनवरी का जाड़ा उग्र रूप धारण किये था। बरैनी ग्राम के निवासी श्री राजमहल जी स्वर्णकार उसी समय बीमार हो गए, बीमारी ने शीघ्र ही विकराल रूप धारण किया। तीन दिन से अन्न जल छूट गया था। श्वांस अहर्निशि बड़े जोर से चल रहा था, ७२ घंटों से लगातार नींद नहीं आई। शारीरिक अस्वस्थता जनित भीषण कष्ट से उनकी धर्मपत्नी भावी आशंका से भयभीत हो उठीं। घर में पत्नी के अतिरिक्त छोटे-छोटे कई बच्चे थे। जीवन-यापन के लिए उनके पास कोई स्थायी सम्पति खेत बागादि भी नहीं थे, सारे परिवार के भरण पोषण का भार श्री राजमहल जी के ऊपर ही था। इनकी निराशाजनक शारीरिक स्थिति देखकर पड़ोस के लोग भी दुखी एवं चिंतित हो गये। चौथी रात्रि को श्री राजमहल जी की पत्नी को सहसा स्मरण हो आया कि शुद्ध चेतन ब्रह्मस्वरूप श्री गुरुदेवजी गांव में ही

विराजमान हैं उनकी शरण में जा केवल गुरुचरणों का कृपा प्रसाद प्राप्त करने से कितने लोगों का कल्याण हो रहा है परन्तु इधर-उधर भटक रही हूँ।

रात के लगभग १० बजे होंगे। महाप्रभु योग-योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज के पवित्र स्वरूप की आरती आनन्दकन्द श्री गुरुदेवजी के कर कमलों द्वारा हो चुकी थी। भक्त समुदाय गुरुदेव के जाने की प्रतीक्षा कर रहा था ताकि उनके जानेपर वे भी प्रस्थान करें।

पर घट-घट वासी दयासिन्धु आरती करके भी आसनसे उठे नहीं। देर तक विराजमान रहे। आसन से अनाथनाथ के न उठने का रहस्य उस समय प्रकट हुआ, जब घूँघट में मुँह छुपाये सिसकियां भरती हुई आकर देवी श्री राजमहल सेठ की धर्मपत्नी जगन्नियन्ता परम सद्‌गुरुदेव के पदाम्बुजों में लिपट गई। लीलानाथ के बार-बार पूछने पर रुदन भरे स्वरमें आहिस्ता-आहिस्ता अपने पतिदेवकी भयंकर बीमारीका हाल उसने किसी प्रकार गुरुचरणोंमें निवेदन किया। सारा समाचार सुनकर भक्त भवभयहारी कृपानाथ ने कहा-तीन दिन से तुम्हारा पति भीषण कष्ट पारहा है, तुम पहले ही क्यों नहीं आईं। परम कृपा निकेतन ने प्रसाद मंगाकर हाथ में लेकर कुछ क्षण दोनों नेत्र बन्द कर लिये, फिर उक्त प्रसाद को राजमहल जी की धर्मपत्नी को देकर कहा जाकर अभी यह प्रसाद उसे खिला दो। साथ ही नाक द्वारा गरम जल भी पिलाने का आदेश दिया। राजमहल उक्त मिष्टान्न प्रसादको ग्रहण करतेही निद्रामग्न हो गये। नाक द्वारा गरम जल पीने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। श्वांस कष्ट भी तुरन्त ही गायब हो गया। प्रातः नींद खुलने पर श्री राजमहल जी ने अपने को पूर्ण स्वस्थ पाया। कठोर शीत में भी प्रातः की आरती में सम्मिलित होने को स्नान करके आये। गत रात्रि में जब इनकी धर्मपत्नी गुरुदेव से कृपा की भीख मांग रही थी, उस समय दर्शकों की भीड़ में इस क्षेत्र के चकबन्दी अधिकारी (सी. ओ. महोदय) भी थे, तथा कछवा बाजार के गांधी विद्यालय इण्टर कालेज के प्रिन्सीपल श्री ललित पांडेय जी भी, जो कुछ आधुनिक भौतिकवादी विचार धारणा से प्रभावित हैं, वे अपने कालेज में श्री गुरुदेव जी के प्रवचन के निश्चित तिथि की प्राप्ति की प्रार्थना के लिए पधारे थे। दूसरे दिन अपराह्न ४ बजे उक्त विद्यालय में गुरुदेवजी के पावन प्रवचन श्रवणार्थ जब श्री राजमहल जी विद्यालय गये तो इनकी शारीरिक स्फूर्ति देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ, कि क्या यह वही व्यक्ति है जो लगातार तीन दिन से निराशा अनिद्रा श्वांस वृद्ध आदि के भीषण कष्ट से पीड़ित था। जिसके जीवन रक्षा के लिए उसकी पत्नी कल-बार-बार रुदन करते हुए गुरुचरणों में निवेदन कर रही थी। इसके पश्चात् जितने दिन तक श्री प्रभु जी का बरैनी में निवास रहा श्री राजमहल जी गुरु-कृपा प्रसाद से पूर्ण स्वस्थ रहे तथा सपरिवार सब कार्यक्रम में सम्मिलित होते रहे। ✿✿

षट्कर्म

* श्री कमलाप्रसादसिंह

'हठयोग प्रदीपिक' ग्रन्थ के कर्ता स्वात्माराम योगी ने १. धौति, २. वस्ति, ३. नेति, ४. नौली, ५. कपालभाति और ६. त्राटक को षट्कर्म कहा है। आगे चलकर उन्होंने गजकरणी का भी वर्णन किया है। परन्तु 'भक्तिसागर' ग्रन्थ के रचयिता चरणदास जी ने १. नेति, २. धौति, ३. वस्ति, ४. गजकर्म, ५. न्योली, और ६. त्राटक को षट्कर्म कहा है तथा १. कपाल भाति, २. धौंकनी, ३. बाघी और ४. शङ्खपखाल—इन चार कर्मों का नाम लेकर उन्हें षट्कर्मों के अन्तर्गत कर दिया है। दोनों में यही अन्तर है कि एक ने गजकर्म को और दूसरे ने कपाल भाति को षट्कर्म के अन्तर्गत माना है। चूँकि ये षट्कर्म की शाखा मात्र हैं, अतएव इस विभेद का कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्म के साधक के लिए हठयोग में दिखलाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि के नियमों का मानना परमावश्यक है। यहां यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्विक—जैसे दूध, घी, घोंटा हुआ बादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ तथा परिमित होना चाहिए। आचार-विचार से एकान्त सेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि समझना चाहिए।

नौलि, नौलिक, जलक्रिया या न्योली—

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं
सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा
नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते।

(हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात् कन्धों को नवाये हुये अत्यन्त वेग वेग के साथ जल की भंवर के समान अपनी तुन्द को दक्षिण वाम भागों से घुमाने को सिद्धों ने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सो करै।
दोनों पग घुटनों पर धरै॥
पेट रु पीठ बराबर होय।
दहने बायें नलैं बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावै।
न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

(भक्ति सागर)

वास्तव में तुन्द को दांये बांये घुमाने का रहस्य किताबों से पढ़कर मालूम करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका हमने कुछ अनुभव किया है, अतः इसका स्वरूप कुछ यों समझना चाहिए। जब शौच-स्नान, प्रातः सन्ध्या आदि से निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हल्का हो गया हो, तब पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, रेचक-कर, वायु को बाहर रोक, बिना देह हिलाये, केवल मनोबल से पेट को दांये से बांये और बांये से दांये चलाने की भावना करे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आने तक प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेट की स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियां दब गयीं और बीच में दोनों ओर से दोलन जुटकर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खम्भ खड़ा हो गया। यही खम्भा जब बंध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ाने से यह खम्भा दांये बांये घूमने लगता है। इसे चलाने में छाती के समीप, कण्ठ पर और ललाट पर भी नाड़ियों का द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार न्योली चल जाने पर चलती रहती है। पहले-पहल चलने के समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है, उसको एक महीने के भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रिया का आरम्भ करने से पहले पश्चिमतानासन और मयूरासन का थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जब तक आंत पीठ के अवयवों से भली भांति पृथक् न हो तब तक आंत उठाने की क्रिया सावधानी के साथ करे, अन्यथा आंतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदररोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रिया को शान्तिपूर्वक करना चाहिए। अंतड़ी में शोथ, क्षतादि दोष या पित्त प्रकोप जनित अतिसार प्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगों में नौलि क्रिया हानिकारक है।

मैल पेट में रहन न पावै।
अपान वायु तासों वश आवै॥
तापतिली अरु गोला शूल।
रहन न पावै नेक न मूल॥
और उदर के रोग कहावैं।
सो भी वे रहने नहिं पावें॥

(भक्ति-सागर)

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि
सन्धापिकाऽऽनन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामय शोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोग प्रदीपिका)

'यह नौलि मन्दाग्नि का भली प्रकार दीपन और अन्नादि का पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और समस्त वात आदि दोष और रोग का शोषण करती है। यह नौलि हठयोग की सारी क्रियाओं में उत्तम है।'

अंतड़ियों के नौलि के वश होने से पाचन और मल का बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय सांस की क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकने पर कण्ठ के समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोग की सारी क्रियाओं से श्रेष्ठ इसलिए है कि नौलि जान लेने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायाम की सीढ़ी है।

धौति, वस्ति में भी नौलि की आवश्यकता होती है। शङ्खपखाली क्रिया में भी, जिसमें मुख से जल ले अँतड़ियों में घुमाते हुए गुदा-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शङ्ख में एक ओर से जल देने पर घूम-कर जल दूसरी राह से निकल जाता है, नौलि सहायक है। नौलि-क्रिया की नकल यन्त्रों द्वारा पाश्चात्यों से अभी तक न बन पड़ी है।

वस्ति-कर्म

वस्ति मूलाधार के समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्ति को साफ करने वाले कर्म को 'वस्ति-कर्म' कहते हैं। 'योग सार' पुस्तक में पुराने गुड़, त्रिफला और चं ते की छाल के रससे बनी गोली देकर अपानवायु को वश करने को कहा है। फिर वस्ति कर्म का अभ्यास करना कहा है।

वस्ति-कर्म दो प्रकार का है—१. पवन-वस्ति, २. जल वस्ति। नौलिकर्म द्वारा अपानवायु को ऊपर खींच पुनः मयूरासन से त्यागने को 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवन वस्ति पूरी सध जाने पर जल वस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जल को खींचने का कारण पवन ही होता है। जब जल में डूबे हुये पेट से न्योली हो जाय, तब नौलि से जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्न जले पायौ
न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्
क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥
(हठयोग-प्रदीपिका)

अर्थात् गुदा के मध्य में छः अंगुल लम्बी बाँस की नली को रक्खो जिसका छिद्र कनिष्ठिका अंगुली के प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानी के साथ चार अंगुल गुदा में प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रक्खे। पश्चात् बैठने पर नाभि तक जल आ जाय इतने जल से भरे हुये टब में उत्कटासन से बैठे। अर्थात् दोनों पाष्णियों, पैरकी एड़ियों

को मिलाकर खड़ी रखकर उन पर अपने स्फिच (चूतड़) को रक्खे और पैरों के अग्र-भाग पर बैठे और उक्त आसन से बैठकर आधारा कुञ्चन करे, जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने आप जल चढ़ने लगेगा। बाद में भीतर प्रविष्ट हुये जल को नौलिक्रम से चलाकर त्याग दे। इस जल के साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रिय विष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदर के क्षालन (धोने) को वस्ति कर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजन से पूर्व ही करने चाहिए और इनके करने के अनन्तर खिचड़ी आदि हल्का भोजन शीघ्र कर लेना चाहिए, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। वस्ति क्रिया करने से जल का कुछ अंश बृहद् अन्त्र में शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्र द्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रों से सम्बद्ध सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा शोषित होकर रक्त में मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधार से प्राणवायु के आकर्षण का अभ्यास करके और जल में स्थित होकर गुदा में नाल प्रवेश के बिना ही वस्तिकर्म का अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करने से उदर में प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आने से धातुक्षय आदि आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिए। अन्यथा 'न्यस्त-नाल:' (अपनी गुदा में नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते ? यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जल-जन्तुओं का नल द्वारा पेट में प्रविष्ट हो जाने का भय रहता है। अतएव नल के मुख पर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिए। और जल को बाहर निकालने के लिए खड़ा पश्चि-मतान आसन करना चाहिए।

कई साधक तालाब या नदी में से जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जल के साथ सूक्ष्म जहरीले जन्तु आंतों में प्रवेश कर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु गंगाजी और हिमालय से निकलने वाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियों का जल अधिक शीतल होने के कारण न्यून शक्ति वाली को इच्छित लाभ के स्थान में हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होने से उसे शोषण करने की क्रिया सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा तुरन्त चालू हो जाती है और शीतल जल से आंव या कफ की उत्पत्ति होती है। अतः टब या अन्य किसी बड़े बरतन में बैठकर शुद्ध और सहन हो सके ऐसे शीतल जल का आकर्षण करना विशेष हितकर है।

हठयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्य ऐलो-पैथिक आदि चिकित्सा शास्त्रों की वस्ति-क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की है। हठयोग में आन्त-रिक बल से जल खींचा जाता है। आयुर्वेद में रोगानुसार भिन्न-भिन्न औषधियों के घृत तैल-क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्यों ने इसी

क्रिया के लिए एक यन्त्र का आविष्कार किया है, जिसे 'एनिमा' या 'डूश' कहते हैं। साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेंडी का तेल या ग्लिसरीन आदि मल-शोधक औषधि यन्त्र द्वारा गुदा के मार्ग से आंत में चढ़ाते हैं। पश्चिम में इसकी चाल इतनी बढ़ गई है कि बहुत लोग तो सप्ताह में एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमा द्वारा वस्ति-कर्म के समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सम्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जल का अधिकांश भीतर रहकर भयंकर हानि कर देता है। और अपने उद्योग और परिश्रम द्वारा जो जल चढ़ाया जाता है, उसमें तथा जो जल यन्त्र द्वारा पेट में चढ़ाया जाता है, उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील पैदल और मोटर पर टहलने में है। इसके अतिरिक्त गरम जल चढ़ाने के कारण वीर्य-स्थान और मूत्र स्थान को उष्णता पहुँचती है, जिससे थोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। यह दोष हठयोग की वस्ति में नहीं है।

यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिनु पावै नाहि।
लिंग-गुदा के रोग जो, सभी के नशि जाहि॥

(भक्ति सागर)

वस्तिकर्म में मूलाधार के पीड़ित और प्रक्षालित होने से लिङ्ग और गुदा के रोगों का नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि
वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्म प्रभावेन
क्षीयन्ते सकलामयाः॥

(हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात् वस्ति-कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व या एक से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं—

धात्विन्द्रियान्तः करणप्रसादं
दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोग प्रदीपिका)

अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधक के सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरण को प्रसन्न करता है। मुख पर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात-पित्त-कफ आदि दोषों की वृद्धि और न्यूनता दोनों को नष्ट कर साम्यरूप आरोग्य को करता है। हाँ, एक बात इस सम्बन्ध में अवश्य ध्यान देने की है कि वस्ति क्रिया करने वालों को पहले नेति और धौति-क्रिया करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता

है। अन्य क्रियाओंके लिए ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), सङ्ग्रहणी, प्रवाहिका अधोरक्त पित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदा में शोथ, सन्तत-ज्वर, आन्त्रसन्निपात (हल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफ वृद्धि जनित तीक्ष्ण श्वास प्रकोप इत्यादि रोगों में वस्ति क्रिया नहीं करनी चाहिए।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायाम का अभ्यास चालू होने के बाद नित्य करने की नहीं है। नित्य करने से आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्ति-क्रिया के भविष्य में मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तम्बाकू और चाय के व्यसनी को तम्बाकू और चाय पिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करने वालों की स्वाभाविक आन्तरिक शक्ति के बलसे शरीर-शुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरअंगुल विस्तारं
हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं
वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैत-
दुदितं धौतिकर्म तत्।
(हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्र को गरम जल में भिगोकर थोड़ा निचोड़ लें। फिर गुरूपदिष्ट मार्ग से धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलने का अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ दस दिन में पूरी धौति निगलने का अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुख में जो प्राप्त रहे, उसे दाढ़ों से भली प्रकार दबा नौलि-कर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलने के पहले पूरा जल पी लेना चाहिए। इससे कपड़े के निगलने में सुभीता तथा कफ-पित्त का उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़े को बाहर निकलने में भी सहायता मिलती है। धौति को रोज साबुन से धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौति में लगे हुए दूषित कफ रूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेंगे।

अनेक साधक बाँस की नवीन करची (काइन, भोजपुरी भाषा में) या वट का बरोह सवा हाथ का लेकर पहले जल पी, पीछे शनैः शनैः निगलने का अभ्यास करते हैं। सूत की एक चढ़ाव-उतराव वाली रस्सी से भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं, तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदि को भीतर घुसने में भी सुभीता होता है।

धौति-कर्म में कोई-कोई तो लाल वस्त्र का प्रयोग करते हैं और इस क्रिया को दूर से देखने वाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्मा को अपनी अँतड़ियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था, अपनी आंखों देखा था। इससे यद्यपि योगियों की मान्यता बढ़ती है, तथापि झूठ का प्रचार होता है।

कासश्वासप्लीह कुष्ठं
कफ रोगश्च विंशतिः।
धौतिकर्म प्रभावेण
प्रयान्त्येव न संशयः॥
(हठयोग प्रदीपिका)

काया होवै शुद्ध ही, भगै पित्त-कफ रोग।
शुकदेव कहैं धोती करम, साधैं योगी लोग॥
(भक्ति-सागर)

पाश्चात्यों ने Stomach Tube (स्टॉमक ट्यूब) बनाया है। कोई एक सवा हाथ की रबर की नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरे से कुछ ऊपर हटकर बगल में एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबर की नलिका द्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकार की धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपर की नाड़ी में रहा हुआ एकाध अन्न का दाना भी गिरता है। दांत खट्टा-सा हो जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। बसन्त या ग्रीष्मकाल में इसका साधन अच्छा होता है। घटिया, कण्ठ-नलिका या श्वास-नलिका में शोथ, शुष्क कास, हिक्का वमन, आमाशय में शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्त पित्त (मुह से रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो, तब धौति क्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहने पर इस क्रिया को प्रतिदिन करने से पाचन-क्रिया में उपयोगी पित्त और कफ धौति निकलने के कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचन-क्रिया मन्द होकर शरीर में निर्बलता आ जायगी। पित्त प्रकोप से ग्रहणी कला दूषित होने पर धौति क्रिया की जायगी तो किसी समय धौति का भाग आमाशय और लघु अन्त्र के सन्धि-स्थान में जाकर फँस जायगा। इसी प्रकार धौति फट जाने पर भी उसके फँस जाने का भय रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो थोड़ा गरम जल पीकर ब्रह्म-दातुन चलाने से धौति निकल कर बाहर आ जायगी। इन कारणों से पित्त-प्रकोपजन्य रोगों में धौति का उपयोग करना अनुचित माना गया है।

नेति-कर्म

नेति दो प्रकार की होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिए।

प्रातःकाल दन्त धावन के पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लू में जल ले और दूसरी साँस बन्द कर जल नाक द्वारा खींचे। जल मुख में चला जायगा। सिर के पिछले सारे हिस्से में, जहां मस्तिष्क का स्थान है, उस कर्म के प्रभाव से गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़ने पर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिका के एक छिद्र से जल खींच कर दूसरे छिद्र से निकालने की क्रिया को 'जलनेति' कहते हैं। एक समय में आधा सेर से एक सेर तक जल एक नासापुट से चढ़ाकर दूसरे नासापुट से निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफ से जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफ से चढ़ाना चाहिये। जलनेति से नेत्र-ज्योति बलवती होती है। यह स्कूल और कालिज के विद्यार्थियों के लिए भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्र-रोग, तीक्ष्ण अम्ल पित्त और नये ज्वर में जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुट से जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिका में संचित होंगे वे आमाशय में चले जायेंगे। अतः उषः पान तो मुँह से ही करना चाहिये। जलनेति के अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूत की दस पन्द्रह तार की एक हाथ लम्बी बिना बटी डोर को, जिसका छः सात इंच लम्बा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोम से चिकना बनाकर जल में भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भाग को भी थोड़ा मोड़कर जिस छिद्र से वायु चलती हो उस छिद्रमें लगा कर और नाक का दूसरा छेद अंगुली से बन्द कर, खूब जोर से बारम्बार पूरक करने से सूत का भाग मुख में आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अंगुष्ठ से पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेति को धोकर दूसरे छिद्र में डालकर मुंह में से निकाल ले। कुछ दिन के अभ्यास के बाद एक हाथ से सूत को मुंह से खींचकर और दूसरे से नाक वाला प्रान्त पकड़कर धीरे धीरे चालन करे। इस क्रिया को 'घर्षण नेति' कहते हैं। इसी प्रकार नाक के दूसरे रन्ध्र से भी, जब वायु उस रन्ध्र से चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक होकर नेति के साथ बाहर आ जाता है। नाक के एक छिद्र से दूसरे छिद्र में भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाक के एक छिद्र से पूरक द्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुख द्वारा न कर दूसरे रन्ध्र द्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्र से दूसरे छिद्र में आ जाता है। इस क्रिया के करने में किसी प्रकार का भय नहीं है। सध जाने पर इसे तीसरे दिन करना चाहिये। जल-नेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालने में किसी-किसी को छींक आने लगती है, इसलिये एक-

दो सेकिण्ड श्वासोच्छ्वास की क्रिया को बन्द करके नेति डालनी चाहिये।

नाक कान अरु दांतका रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेति कर सोय॥
(भक्ति-सागर)

कपाल शोधिनी चैव
दिव्यदृष्टि प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्व जातरोगौघं
नेतिराशु निहन्ति च॥
(हठयोग प्रदीपिका)

'नेति कपाल को शुद्ध करती है, दिव्य-दृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिर की सन्धि के ऊपर के सारे रोगों को नेति शीघ्र ही नष्ट करती है।' प्रायः देखा जाता है कि रबर की या दूसरे प्रकार की नलिका से शौकीन लोग नाक द्वारा जल पिया करते हैं। इसकी महत्ता भी लोगों पर विदित है।

कफ से या नेति के कारण नासिका के ऊपर के भागमें दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गौ घृत दिन में दो बार सूंघे। घृत को हथेली में लेकर एक नासापुट बन्द कर दूसरे नासापुट से सूंघे, तब वह ऊपर चढ़ेगा। पाण्डु कामला, अम्लपित्त, ऊर्ध्व रक्त पित्त, पित्त-ज्वर, नासिका में दाह, नेत्रदाह, नेत्राभिष्यन्द (नेत्रों की लाली), मस्तिष्क दाह इत्यादि पित्त प्रकोपजन्य रोगों में से कोई रोग हो तो इस नेति का उपयोग न करे। अधिक आवश्य-कता हो तो सम्हाल पूर्वक करे, परन्तु घर्षण-क्रिया न करे। पित्त प्रकोप के समय जलनेति का उपयोग हितकर है।

त्राटक-कर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा
सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पात पर्यन्त-
माचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥
(हठयोग प्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य-निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को अर्थात् लघु-पदार्थ को तब तक देखे, जब तक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्यों ने त्राटक कर्म कहा है।'

त्राटक कर्म टकटकी लावे।
पलक-पलक सो मिलै न लावे॥
नैन उघारे ही नित रहै।
होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आंख उलटि त्रिकुटी में आनौ।
यह भी त्राटक कर्म पिछानौ॥
जैसे ध्यान नैन के होई।
चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दीवार पर सरसों बराबर काला चिह्न दे, उसी पर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्ति सम्पन्न हो जाती

है। मेस्मेरिज्म में जो शक्ति आ जाती है, वही शक्ति त्राटक से भी प्राप्य है—

मोचनं नेत्ररोगाणां
तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यततस्त्राटकं गोप्यं
यथा हाटकपेटकम्॥
(हठयोग प्रदीपिका)

'त्राटक नेत्र रोग नाशक है। तन्द्रा, आलस्यादि को भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसार में इस प्रकार गुप्त रखने योग्य है, जैसे सुवर्ण की पेटी संसार में गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।

उपनिषदों में त्राटक के आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोग के ग्रन्थों में प्रकार भेद नहीं है। उक्त तीनों भेदों का वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

हृदय अथवा भ्रूमध्य में नेत्र बन्द रखकर एकाग्रतापूर्वक चक्षुवृत्ति की भावना करने को 'आन्तर त्राटक' कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और ध्यान में बहुत अंशों में समानता है। भ्रूमध्य में त्राटक करने से आरम्भ में कुछ दिनों तक कपाल में दर्द हो जाता है तथा नेत्र की बरौनी में चञ्चलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् नेत्रवृत्ति में स्थिरता आ जाती है। हृदय-देश में वृत्ति की स्थिरता के लिए प्रयत्न करने वालों को ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वत के तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य-त्राटक कहते हैं। केवल सूर्य पर त्राटक करने की मना ही है। कारण, सूर्य और नेत्र-ज्योति में एक ही प्रकार की शक्ति होने से नेत्र-शक्ति सूर्य में आकर्षित होती रहेगी, जिससे नेत्र दो ही तीन मास में कमजोर हो जायेंगे। यदि सूर्य पर त्राटक करना हो तो जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब पर करे। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थ पर त्राटक करने की क्रिया को 'बाह्य त्राटक' कहते हैं।

काली स्याही से कागज पर लिखे हुए—'ॐ', बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान के चित्र, मोमबत्ती या तिल के तेल की अवलबत्ती या बत्ती के प्रकाश से प्रकाशित धातु की मूर्ति, नासिका के अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर रखने की क्रिया को 'मध्य त्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्य में खुले नेत्र से देखने की क्रिया प्रारम्भ में अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रों की नाड़ियाँ निर्बल होकर दृष्टि कमजोर (Short Sight) हो जायगी।

इन तीनों प्रकार के त्राटक के अधिकारी

भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस साधक की पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदय में दाह रहता हो, नेत्र में फूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटक का अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्य पर त्राटक करेगा तो नेत्र को हानि पहुँचेगी। जिनकी दृष्टि दूर की वस्तुओं के लिए कमजोर हो, जिनकी वात-प्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्र की निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदि पर त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्य पर त्राटक करें। जिनकी दृष्टि दोष-रहित हो, त्रिधातु सम हों, कफ-प्रधान प्रकृति हो, नेत्रों की ज्योति पूर्ण हो, वे 'मध्य त्राटक' करें।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या सुजाक (Gonesshed) रोग हुआ हो अथवा जो अम्ल पित्त, जीर्ण-ज्वर, विषम ज्वर, मज्जातन्तु विकृति, पित्ताशय विकृति इत्यादि किसी व्यथा से पीड़ित हों अथवा तम्बाकू, गाँजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकार का त्राटक न करें। इसी प्रकार मानसिक चिन्ता क्रोध, शोक, पुस्तकों का अध्ययन, सूर्यताप या आंच का सेवन करने वाले भी इस त्राटक की क्रियामें प्रवृत्त न हों।

पाश्चात्यों का अनुकरण करने वाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल पदार्थादि अपथ्य वस्तुओं का सेवन करते हुए भी 'मेस्मेरिज्म' विद्या की सिद्धि के लिये त्राटक किया करते हैं। परन्तु ऐसे लोगों का अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकों के नेत्र चले जाते हैं, और अनेकों पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्य का पालन किया है, वही सिद्धि प्राप्तकर सके हैं।

यम-नियम पूर्वक आसनों के अभ्यास से नाड़ी समूह मृदु हो जाने पर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाड़ियों को आघात पहुँचते देर नहीं लगती। त्राटक के जिज्ञासुओं के लिये आसनों के अभ्यास के परिपाककाल में नेत्र के व्यायाम का अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकाल में शान्तिपूर्वक दृष्टि को शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचे की ओर, ऊपर की ओर चलाने की क्रिया को नेत्र का व्यायाम कहते हैं। इस व्यायाम से नेत्र की नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करने से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये तथा रोज सुबह त्रिफला के जल से अथवा गुलाब जल से नेत्रों को धोना चाहिये। भोजन में पित्तवर्द्धक और मलावरोधक (कब्ज) करने वाले पदार्थों का सेवन न करें। नेत्र में आंसू आ जाने के बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकाल में करे। वास्तव त्राटक के अनुकूल समय रात्रि के दो बजे से पांच बजे तक है। शान्ति के समय में चित्त की एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है।

एकाध वर्ष पर्यन्त नियमित रूप से त्राटक करने से साधक के संकल्प सिद्ध होने लगते है, दूसरे मनुष्यों के हृदय का भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थान में स्थित पदार्थ अथवा घटना का सम्यक् प्रकार से बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पियँ पेट भर नीर ।
फेरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर ॥

हाथी जैसे सूंड से जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्म में किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजन से पहले करना चाहिए। विषयुक्त या दूषित भोजन करने में आ गया हो तो भोजन के पीछे भी किया जा सकता है। प्रति दिन दन्त धावन के पश्चात् इच्छा भर जल पीकर अँगुली मुख में दे उल्टी करदे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्र से जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जल को न्योली कर्म से भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय, तब जानना चाहिये कि अब मेल मुख की राह नहीं है। पित्त प्रधान पुरुष के लिये यह क्रिया हितकर है।

कपाल-भाति-कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य
रेचपूरौ ससम्भ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता
कफदोष विशोषणी ॥
(हठयोग प्रदीपिका)

अर्थात् लोहार की भाथी के समान अत्यंत शीघ्रता से क्रमशः रेचक–पूरक प्राणायाम को शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्र में कफदोष का नाशक कहा गया है तथा 'कपालभाति' नाम से विख्यात है।

जल सुषुम्णा में से अथवा फुफ्फुस में से श्वास नलिका द्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो, तब सूत्र नेति और धौति क्रिया से इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समय पर यह कपाल-भाति लाभदायक है। इस क्रिया से फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाड़ियों में इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेद द्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस कोषों की शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान होते हैं। साथ-साथ सुषुम्णा, मस्तिष्क और अमाशय की शुद्धि होकर पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है। परन्तु उरः क्षत हृदय की निर्बलता, वमनरोग हृल्लास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्णज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्व-रक्त-पित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषों के समय, यात्रा में, और वर्षा हो रही हो ऐसे समय पर इस क्रिया को न करे।

यदि यह क्रिया अधिक वेग-पूर्वक की जायगी तो किसी नाड़ी में आघात पहुँच सकता है। और शक्ति से अधिक प्रमाण में की जायगी तो फुफ्फुस कोषों में शिथिलता आ जायगी, जिससे वायु को बाहर फेंकने की शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनी शक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा फुफ्फुसों में वायु शेष रहकर बार-बार डकार बनकर मुंह में से निकलता रहेगा।

इस क्रिया से आमाशय में संग्रहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहार-रस और विकृत श्लेष्म जल में मिश्रित होकर वमन के साथ बाहर आ जाते हैं। कुछ जल आमाशय में से अन्त्र में चला जाता है। कुछ सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा रक्त में मिल जाता है। परन्तु इससे कुछ भी हानि नहीं होती। वह जल मल-मूत्र द्वार से और प्रस्वेद रूप से एक-दो घण्टे में बाहर निकल जाता है। इस क्रिया को करने वाले के लिए भोजन में खिचड़ी अथवा दूध-भ[illegible] लेना विशेष हितकर है।

अजीर्[illegible] में भ्रमण से पित्त वृद्धि, पित्त प्रकोपजन्य [illegible]ग, जीर्ण-कफ-व्याधि, कृमि, रक्त[illegible]र, आमवात, विष-विकार और ह[illegible]दि व्याधियों को दूर करने के लिए यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफ प्रकोप, वमन रोग, अन्त्र निर्बलता, क्षतयुक्त ग्रहणी, हृदय की निर्बलता एवं उरः क्षतादि रोगों में यह क्रिया न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होने पर इस क्रिया को नित्य न करे। शरद ऋतु में स्वाभाविक पित्त-वृद्धि होती रहती है। ऐसे समय पर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सिद्धगुफा प्रकाशन की एक नई भेंट—

योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज [illegible]रा लिखित

योग-सिद्धान्त--प्रथम खण्ड

मूल्य २५) सजिल्द संस्करण

डाक व्यय अतिरिक्त

पता—व्यवस्थापक, श्री सिद्धयोग प्रशिक्षण केन्[illegible]ाई, आगरा

योग - कामना

❀ आयुर्वेद-बृहस्पति आचार्य पं श्री शिवकुमार शास्त्री

प्राणायाम योग अपनावें, हे शिव मोक्ष धाम हम पावें ।
ब्राह्म स[illegible] में हम जग आवें, परम पवित्र ओ३म् को ध्यावें ॥

सुखद स्वास्थ्य हित प्रा[illegible]लें, शौचादिक विधिवत् हम होवें ।
संध्या [illegible] यज्ञादि रचावें, ऋचा वेद की सस्वर गावें ॥

यम नियमों को सदा नि[illegible]मादिक रिपु नहीं सतावें ।
सत संगति[illegible] उठावें, तन-ताप त्रय शूल नशावें ॥

कलह कपट मन से बिसर[illegible], दुष्टजनों से भय नहिं खावें ।
सात्विक बुद्धि विवेक बढ़ावें, मानव जीवन सफल बनावें ॥

योगाऽमृत का सेवन करके, परम ब्रह्म में लय हो जावें ।
दिव्य दीर्घ आयुष हम पावें, 'सिद्धयोग' को अमर बनावें ॥

योग ज्ञान की ज्योति जलावें, सदा सत्य "शिव" सुन्दर पावें ।

❀ श्री गुरुदेव जी की आरती ❀

ओम जय गुरुवर प्यारे स्वामी जय गुरुवर प्यारे ।
योगेश्वर सि[illegible]श्वर प्रभु तुम त्रिभुवन उजियारे ॥

मात पिता ध[illegible] वैभव बन्धु सखा स्वामी ।
ज्ञान सिन्धु तुम करुणाकर प्रभु तुम अन्तर्यामी ॥
जिसके बने सहायक उसके संकट सब टारे ।
ओम जय गुरुवर प्यारे !

ऋद्धि सिद्धि नव निधि के दाता शरण पड़ा तेरी ।
भव-सागर से[illegible]म उबारो लाज रखो मेरी ॥
मेरे जगजीवन के हो प्रभु तुमही रखवारे ।
ओम जय गुरुवर प्यारे ॥

अपरम्पार तुम्हारी महिमा वेद-शास्त्र गाते ।
ब्रह्मा विष्णु महेश तुम्ही हो ऋषि मुनि बतलाते ।
तुम हो सबमें फिर भी सबसे रहते हो न्यारे ।
ओम जय गुरुवर प्यारे ॥

—श्री सोमदत्त शर्मा, सालवन करनाल—

श्री सद्गुरु महिमा

ब्रह्मचारी श्री दासलाल श

यद्यपि सद्गुरु महिमा जैसे अत्यन्त गूढ़ विषय पर कुछ कहना व लिखने का प्रयास मानो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। फिर भी यह गुरु महिमा भक्तों के मन को प्रसन्नता देने वाली तथा गुरु भक्ति को हृदय में अधिक दृढ़ कराने में सहायक होगी, इस विचार से प्रेरित हुआ कुछ थोड़ा लिखने का प्रयास किया जा रहा है। सन्तों ने गुरु महिमा के विषय में कहा है—

सब पर्वत स्याही करूँ, घोल समुन्दर जाय।
धरतीका कागद करूँ, सद्गुरु स्तुति न समाय॥

इस जगत में हमें कला, विज्ञान, साहित्य, संगीत तथा अन्यान्य विद्याओं में निपुणता प्राप्त करने के लिए किसी गुरु, आचार्य अथवा गाईड व निर्देशक की आवश्यकता पड़ती है। स्वाभाविक है अध्यात्म जैसे अत्यन्त सूक्ष्म व दुर्गम पथ पर चलने के लिए भी सद्गुरु की आवश्यकता पड़ेगी। सद्गुरुदेव के बिना इस मार्ग पर आरूढ़ होने की कल्पना ही व्यर्थ है।

व्याकरणानुसार गुरु शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है।

१. गृ=निगरणे (तुदादिगण) निगरण का अर्थ है निगलना अथवा भक्षण करना।

गिरति [illegible]नं अविद्यां ग्रसते संसृतिम् समूल[illegible] हन्ति इति गुरुः। अर्थात् अ[illegible] संसृति को जड़ से उखाड़ फेंके[illegible]

२. गृ [illegible]ब्दे (क्र्यादिगण)।

गृणाति ब्रह्म-तत्वम् उपदिशतीति गुरुः। शिष्य के लिए ब्रह्म तत्व का उपदेश करे वह गुरु है।

३. गु=से चने (भ्वादिगण) सेचनार्थक धातु है।

गरति शि[illegible] दक्षिण कर्णे गुरुमन्त्रामृतं सिञ्चति शिष्य[illegible]ह समुद्भूतां वैराग्यलताम् प्रेमलताम् वा [illegible]नार्थम् हितोपदेशेऽस्मिञ्चति।

अर्थात् साधक शिष्य के दाहिने कर्ण को मन्त्ररूपी अमृत से सिञ्चित करता है तथा शिष्य के हृदय[illegible] उद्यान में उत्पन्न वैराग्य-लता व भक्ति[illegible]ा को विकसित करने के लिए जो अमृतोप[illegible]रते हैं वे गुरु हैं। कहा भी गया है—

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा।

अर्थात् श्री[illegible]ुरुदेव के समान हितकारी वचनों की क[illegible]ला कौन हो सकता है?

४. गृ= विज्ञाने (चुरादि गण) ।

'गारयते विजानाति स्वयं परान्विज्ञापयति चेति गुरुः।' जो उस आत्म-विज्ञान को स्वयं जानता है व दूसरों को जनाता है गुरु कहलाता है। विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान, अनुभूत ज्ञान जिसे (...ication) कहते हैं।

५. गुर्वी=उद्यमने (...)

"गुर्वति उद्यच्छति।" अर्थात् जो शिष्य के जन्म-मरणरूपी चक्र को नष्ट करने का उद्यम करते हैं वह गुरु है।

गुरु शब्द इस प्रकार बना है।

गृ धातु से 'कृग्रोरुच्च' इस उणादि सूत्रसे उ प्रत्यय ऋकारस्य उकारादेशे रपरत्वे च गुरु

गृ+उ=ऋकार को उकार व रपर

गुर्+उ=गुरु शब्द बना है। जो उस परम सत्य का ज्ञान कराता है उसे सद्गुरु कहते हैं।

लौकिक व्यवहार में गुरु शब्द कई अर्थों में व्यवहृत होता है। जो गुर (... धि, नुक्ता) बताये वह गुरु है। इस प्रकार जीवन के क्षेत्र का गुरु अलग-अलग है । भारी अथवा श्रेष्ठ वस्तु को भी गुरु कहते है । व्याकरण में दीर्घ स्वर की गुरु संज्ञा होती है।

गुरु इस पद में दो अक्षर हैं। गु+रु। गु का अर्थ है अन्धकार तथा रु का अर्थ है अन्धकार का विनाशक। गुरुगीता में श्लोक है-

गु शब्दस्त्वंधकारोऽस्ति

रु शब्दस्तन्निरोधकः ।

अंधकार विरोधित्वाद्

गुरुरित्यभिधीयते ॥

मुमुक्षु के लिए गुरु की परमावश्यकता है। संसार के महापुरुषों व सन्तों ने गुरु-महिमा का मुक्त कण्ठ से गान किया है। वेद तथा आर्ष ग्रन्थों में सद्गुरु महिमा के पद भरे पड़े हैं। श्रुति में 'आचार्यवान हि पुरुषो वेद' अर्थात् गुरु वाला ही उस पुरुष अर्थात् आत्मा को जानता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान अपने मुखारविन्द से अर्जुन को कहते हैं—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्वदर्शिनः।

उपनिषदोंमें 'तद् विज्ञानार्थम् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् अभिगच्छेत्।' कहकर गुरु के पास जाने का आदेश दिया गया है।

लोक भाषा में भी कहावत है।

परमेश्वर से गुरु बड़े गावत वेद पुराण ।
कठिन हरिकी भक्ति है, गुरुके घर भगवान।।

भारतीय महान सन्त भी एक स्वर में उद्घोष करते हैं कि गुरुदेव के मुखमें ब्रह्म है। 'गुरुवक्त्रेस्थितम् ब्रह्म प्राप्यते तत्प्रसादतः।' इसी प्रकार का अंश गुरु-गीता का देखिये— 'गुरु पाद प्रसादेन ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम्।' गुरु भक्तों ने ईश्वर से भी ऊँचा स्थान गुरुदेव को दिया है। यथा—

☼ ☼ ☼ 卐 …व-वर्ष प्रवेश 卐 ☼ ☼ ☼

सिद्धेश्वर योग-यो… …रम प्रभु
श्री रामलाल जी महाराज …
पावनपर्व के सुअवसर पर 'सिद्ध…
अङ्क उसके नवीन चौदहवें व…
विशेषाङ्क के रूप में कृपालु …
और अनुग्राहकों की सेवा में … …जा
रहा है। सदा की भांति इस व… …स बात
का विशेष ध्यान रक्खा गया है … …षाङ्क
योग परक उच्चस्तरीय पठनी… …ौर संग्रह-
णीय सामग्री से संयुक्त होकर … प्रकाशित
हो। सिद्धयोग अपने संस्थापक सम्पादक और
संचालक योग-योगेश्वर अनन्त श्री गुरुदेव
श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के … …र्वाद और
सहयोग का सम्बल पाकर अप… …स उद्देश्य
की पूर्ति कर पाने में सफल … है या नहीं
यह विचारना योगप्रेमी पाठक… …काम है।
प्रयास यही किया गया है कि … विषय के
विशेषज्ञ विद्वान, आचार्य प्रवरों … विचारपूर्ण
लेख, साधकों की अपनी अनुभूति पर आधा-
रित योग-प्रयोग और सुविज्ञ… …कवियों की
प्रेरणाप्रद रचनाओं को इस ल… विशेषाङ्क
में दिया जाय। यदि योगानु… …पाठकों को
इससे कुछ भी दिशा-दर्शन … …सका तो
निश्चित रूप से इसका श्रेय … …न सुले-
खकों और सुकवियों को ही जाना चाहिए,
जिनके विचार-पूर्ण लेख औ… रचनाओं से
इसका कलेवर अलंकृत हुआ … । हम तो
विनम्रतापूर्वक पूज्य श्री गुरुदे… और उन
लेखक बन्धुओं के प्रति जिन्होंने … गुरुदेव की

के इंगित पर अपनी कृतियाँ भेजने की कृपा की
…ु अपना हार्दिक आभार प्रकट करना और
…मियों की क्षमा माँगना ही अलम् समझते है।

पिछला तेरहवां वर्ष भी 'सिद्धयोग' का विश्व-व्यापी मँहगाई के कारण कठिनाई और दुरूहताओं का वर्ष ही रहा है। 'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य में स्वल्प-सी वृद्धि इसी कारण से की गई है किन्तु इस मूल्य-वृद्धि के उपरान्त भी यह कहना कठिन है कि 'सिद्धयोग' स्वाव-लम्बी है। आर्थिक घाटा अब भी उसके सामने है। इस आर्थिक कठिनाई को कम करने में नये ग्राहक बनाकर जिन गुरु-भाई-बहनों ने अपना सक्रिय सहयोग दिया है 'सिद्धयोग' प्रकाशन की ओर से वे सभी धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र है। अन्य गुरु भाई-बहनों से भी हमारा आग्रह है कि वे कुछ नवीन ग्राहक बनाकर 'सिद्धयोग' प्रकाशन को अपना भी सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

विलम्ब से प्राप्त होने के कारण जो महत्व-पूर्ण लेख इस अङ्क में नहीं जा सके हैं उन्हें आगामी अङ्कों में प्रकाशित किया जाता रहेगा। आनन्दकन्द प्रभुजी के आकाश गमन और काय-निर्माण सम्बन्धी चित्रों से सम्बन्धित विशेष लेख भी पाठकों को आगामी अङ्क में पढ़ने को मिलेंगे।

विनयावनतः—

देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' संयुक्त सम्पादक

गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपकी जो गोविंद दियो मिलाय।

साधारण लोग भी यह कहा करते हैं-'गुरु बिन होइ न ज्ञान' सन्त शिरोमणि तुलसीदास जी ने भी लिखा है 'गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई, जो बिरंचि शंकर सम होई।'

उर्दू के एक कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों मे कहा है—

जो है शोके नजर कामिल,
तो कर खिदमत फकीरों की।
नहीं मिलता यह गौहर,
बादशाह के खजानों में॥

गुरु भ[illegible] का हृदय में उदय होना सबमें सम्भव नहीं [illegible]वान शंकर पार्वती से कहते हैं।

धन्या [illegible] पिता धन्या,
[illegible] धन्यो वंश कुलम् तथा।
धन्या [illegible]ा देवि,
[illegible] गुरु-भक्ति सु दुर्लभा॥

[illegible]ं भी कहा गया है कि गुरु-भक्त [illegible] से पुनर्जन्म नहीं होता। एक [illegible] भक्त की इतनी गरिमा बताई है [illegible] और निगुरा (गुरु-विहीन) का दर्शन [illegible]त बताया गया है। — क्रमशः

☼ ☼ ☼

योग सिद्धान्तों का समर्थक और प्रतिपादक
हिन्दी भाषा का एकमात्र उच्चकोटि का मासिक
❀ श्री सिद्धगुफा सवांई आगरा द्वा[illegible] प्रकाशित ❀
तथा
योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी [illegible]राज
द्वारा
❀ संस्थापित और सम्पादित ❀

सिद्धयोग

जो चैत्र शुक्ला ६ सं० २०३८ से अपने उत्त[illegible] के प्रवेशांक
के साथ १४ वें वर्ष में प्रवेश [illegible] है

ग्राहक बनकर अपने को योग-साधना का छ[illegible] बनाइये
वार्षिक मूल्य १८ रु० मा[illegible]
पता—व्यवस्थापक, श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण के[illegible] सवांई, आगरा